विवेक ज्योति

हिन्दी त्रैमासिक

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम रायपुर

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण - विवेकानन्द - भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

अप्रैल – मई – जून

★ १९७४ ★

सम्पादक एवं प्रकाशक

स्वामी आत्मानन्द

व्यवस्थापक

स्वामी प्रणवानन्द

वार्षिक ५)

एक प्रति १।।)

फोन : १०४६

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम,

रायपुर ४९२-००१ (म.प्र.)

अनुक्रमणिका

—।०।—

कव्हर चित्र परिचय – स्वामी विवेकानन्द
[पैसाडेना, कैलिफोर्निया (अमेरिका में), सन् १९०० ई०]

मुद्रण स्थल : नरकेसरी प्रेस, रायपुर (म. प्र.)

"आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च"

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

वर्ष १२] अप्रैल - मई - जून [अंक २

वार्षिक शुल्क ५) ★ १९७४ ★ एक प्रति का १॥)

बोध कब ?

अनादिमायया सुप्तो
यदा जीवः प्रबुध्यते ।
अजम्-अनिद्रम्-अस्वप्नम्
अद्वैतं बुध्यते तदा ॥

——जिस समय (स्वस्वरूपज्ञान की पुकार के द्वारा) अनादि माया से सोया हुआ जीव जागता है, उसी समय उसे अजन्मा, अनिद्र और स्वप्न से रहित अद्वैत आत्मतत्त्व का बोध प्राप्त होता है।

—माण्डूक्योपनिषद्, गौ० का०, १६

पहले स्वयं समझो

किसी गाँव में एक ब्राह्मण रहता था। दूसरों के घर पूजा-पाठ और कथा-प्रवचन करके वह अपनी आजीविका जुटाता था। एक दिन उसने सुना कि उस देश का राजा बड़ा विद्याप्रेमी है और आध्यात्मिक चर्चा में बहुत अनुराग रखता है। वह राजा से मिलने गया। सोचा, यदि राजा मेरी भागवत-कथा सुन लें, तो भरपूर दान-दक्षिणा मिलेगी। वह राजा से मिलकर बोला, "महाराज! आप मुझसे श्रीमद्भागवत सुनिए।" राजा ने कहा, "आपने श्रीमद्भागवत का अर्थ अभी तक स्वयं ही नहीं समझा है। जाकर अच्छी तरह पढ़िए, तब आइएगा।"

ब्राह्मण अप्रसन्न हो गया और सोचने लगा—'राजा कैसा मूर्ख है! मैंने इतने दिनों तक श्रीमद्भागवत पढ़ा, फिर भी वह कहता है, फिर से जाकर पढ़िए।' पर प्रकट में उसने राजा से कुछ कहना उचित न समझा। वह खिन्न होकर घर लौट आया और फिर से भागवत पढ़ने लगा। एक एक श्लोक का ठीक अर्थ समझकर वह मन में हँसकर कहने लगा—'देखो तो, राजा भी कैसा निर्बोध है! अब श्रीमद्भागवत में मुझे क्या और भी कुछ समझना बाकी रह गया है?'

निदान कुछ दिनों के बाद वह पुनः राजा के पास पहुँचा और बोला, "महाराज! अब मुझसे आप श्रीमद्भागवत सुनिए।" राजा ने फिर से वही बात दुहरायी—

"आप श्रीमद्भागवत भलीभाँति पढ़कर आइए, तब आपसे सुनूँगा।" ब्राह्मण ने राजा की बात का कोई उत्तर न दिया। वह उदास होकर घर लौट आया और मन में सोचने लगा-- 'राजा मुझसे बार बार क्यों कहता है कि फिर से पढ़कर आइए। अवश्य ही इसमें कोई रहस्य है। मुझे अच्छी तरह भागवत पढ़कर देखना चाहिए।' ऐसा सोचकर उस ब्राह्मण ने गम्भीरतापूर्वक भागवत का पाठ करना आरम्भ कर दिया। ब्राह्मण सदाचारी था। वह ज्यों ज्यों गहराई में उतरकर भागवत को पढ़ता गया, त्यों त्यों उसके मन में वैराग्य का भाव उदित होने लगा। भगवान् के लिए हृदय में प्रेम की धारा फूट पड़ी और वह भगवत्प्रेम में व्याकुल हो, आँसू बहाते हुए बार बार श्रीमद्भागवत का पाठ करने लगा। इससे उसके हृदय का कलुष धुल गया और वह राजा के पास जाकर उसे भागवत सुनाने की बात ही बिसर गया।

इधर राजा ने जब बहुत दिनों तक ब्राह्मण को अपने पास फिर से आते न देखा, तो सोचने लगा-- 'क्या बात है? ब्राह्मणदेवता क्यों नहीं आये? क्या वे मुझसे रुष्ट हो गये? जाकर उनका पता लगाना चाहिए।' ऐसा सोचकर राजा स्वयं उस ब्राह्मण की खोज में निकल पड़ा। जब वह ब्राह्मण के घर पहुँचा, तो देखा कि ब्राह्मण तन्मय होकर अश्रुपूर्ण लोचनों से भागवत पढ़ रहा है। राजा के आने की आहट भी ब्राह्मण को न मिली। यह देख राजा ने गद्गद् हो ब्राह्मण से कहा,

"ब्राह्मणदेवता ! अब आपका श्रीमद्‌भागवत का पाठ सम्पूर्ण हुआ है। अब मैं आपसे भागवत सुनूँगा !"

तात्पर्य यह कि शास्त्र दूसरों को सुनाने की अपेक्षा अपने को सुनाने के लिए अधिक बनाये गये हैं। दूसरों को ज्ञान समझाने से पहले स्वयं समझ लो।

✤

विवेकानन्द के पत्र

अग्नि-मंत्र

(स्वामी रामकृष्णानन्द को लिखित)

द्वारा जार्ज डब्ल्यू० हेल,
५४१, डियरबोर्न एवेन्यू, शिकागो
१९ मार्च, १८९४

प्रिय शशि,

...प्रभु की इच्छा से मजूमदार महाशय† से मेरी यहाँ भेंट हुई। पहले तो बड़ी प्रीति थी, पर जब सारे शिकागो शहर के नर-नारी मेरे पास झुण्ड के झुण्ड आने लगे, तब मजूमदार भैया के मन में आग जलने लगी। मैं तो देख-सुनकर दंग रह गया ! ... मेरे जैसा उनका न हुआ, इसमें मेरा क्या दोष ? ...और मजूमदार ने धर्म-महासभा में एवं पादरियों के पास मेरी यथेष्ट निन्दा की। 'वह कोई नहीं; वह ठग है, ढोंगी है; वह तुम्हारे

† ब्राह्मसमाज के नेता श्री प्रतापचन्द्र मजूमदार, जिन्होंने ब्राह्मधर्म के प्रतिनिधि के रूप में शिकागो की धर्म-महासभा में भाग लिया था।

देश में कहता है कि मैं साधु हूँ'-- आदि बातें कहकर उनके मन में मेरे बारे में गलत धारणा पैदा कर दी। प्रेसिडेण्ट बरोज के मन में मेरे बारे में इतनी गलत धारणा कर दी कि वे मुझसे अब अच्छी तरह बातचीत भी नहीं करते। वे लोग पुस्तकों एवं पत्रकों द्वारा मुझे दबाने का भरसक प्रयत्न कर रहे हैं। किन्तु गुरुदेव मेरे साथ हैं। दूसरे लोग क्या कर सकते हैं? सारा अमेरिका देश मुझे आदर करता है, भक्ति करता है, गुरु जैसा मानता है-- मजूमदार बेचारा क्या करे? पादरी इत्यादि भी मेरा क्या कर सकते हैं?...

भाई, मजूमदार को देखकर मेरी बुद्धि ठिकाने आ गयी। भर्तृहरि ने ठीक ही कहा है-- 'ये निघ्नन्ति निरर्थकं परहितं ते के न जानीमहे' (जो नाहक औरों के हित के बाधक होते हैं, वे कैसे हैं यह हमें नहीं मालूम)। भाई, सब दुर्गुण मिट जाते हैं, पर वह अभागी ईर्ष्या नहीं मिटती।...हमारी जाति का वही दोष है-- केवल परनिन्दा और ईर्ष्या। वे सोचते हैं कि हमीं बड़े हैं-- दूसरा कोई बड़ा न होने पाये।

इस देश की सी महिलाएँ दुनिया भर में नहीं हैं। वे कैसी पवित्र, स्वावलम्बिनी और दयावती हैं। महिलाएँ ही यहाँ की सब कुछ हैं। विद्या, बुद्धि आदि सभी उनके अन्तर्गत हैं। 'या श्रीः स्वयं सुकृतिनां भवनेषु' (जो पुण्यात्माओं के घरों में स्वयं लक्ष्मीरूपिणी हैं) इसी देश में हैं, और 'पापात्मना हृदयेष्वलक्ष्मीः' (पापियों के

हृदय में अलक्ष्मीरूपिणी हैं) हमारे देश में हैं-- बस, यही समझ लो। अहो ! यहाँ की महिलाओं को देखकर में तो अचरज से गड़ गया। 'त्वं श्रीस्त्वमीश्वरी त्वं ह्रीः' (तुम्हीं लक्ष्मी हो, तुम्हीं ईश्वरी हो, तुम्हीं लज्जारूपिणी हो) इत्यादि । 'या देवी सर्वभूतेषु शक्तिरूपेण संस्थिता' (जो देवी सब प्राणियों में शक्तिरूप से विराजती हैं) इत्यादि। यहाँ की बर्फ जैसी सफेद है, वैसी शुद्ध मनवाली हजारों नारियाँ यहाँ हैं। फिर अपने देश की दस वर्ष की उम्र में बच्चों को जन्म देनेवाली बालिकाएँ !!! प्रभु, मैं अब समझ रहा हूँ। हे भाई, 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः' (जहाँ नारियों की पूजा होती है, वहाँ देवता प्रसन्न रहते हैं)--वृद्ध मनु ने कहा है। हम महापापी हैं; स्त्रियों को 'घृणित कीड़ा', 'नरक का द्वार' इत्यादि कहकर हम अधःपतित हुए हैं। बाप रे बाप ! कैसा आकाश-पाताल का अन्तर है ! 'याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधात्' (जहाँ जैसा उचित हो, ईश्वर वहाँ वैसा कर्मफल का विधान करते हैं-- ईशोपनिषद्)। क्या प्रभु झूठी गप्प से भूलनेवाला है ? ऋषि ने कहा है, 'त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी' (तुम्हीं स्त्री हो और तुम्हीं पुरुष; तुम्हीं क्वाँरे हो और तुम्हीं क्वाँरी--श्वेताश्वतर उपनिषद्) इत्यादि, और हम कह रहे हैं 'दूरमपसर रे चाण्डाल' (ऐ चाण्डाल, दूर हट), 'केनैषा निर्मिता नारी मोहिनी' (किसने इस मोहिनी नारी को बनाया है ?)

इत्यादि। दक्षिण भारत में उच्च जातियों का नीच जातियों पर क्या ही अत्याचार मैंने देखा है! मन्दिरों में देव-दासियों के नृत्य की धूम मची है! जो धर्म गरीबों का दुःख नहीं मिटाता, मनुष्य को देवता नहीं बनाता, क्या वह भी धर्म है? क्या हमारा धर्म धर्म कहलाने योग्य है? हमारा तो छूतमार्ग है—सिर्फ 'मुझे मत छुओ', 'मुझे मत छुओ'। हे भगवन्! जिस देश के बड़े बड़े खोपड़ीवाले आज दो हजार वर्ष से सिर्फ यही विचार कर रहे हैं कि दाहिने हाथ से खाऊँ या बायें हाथ से, पानी दाहिने ओर से लूँ या बायीं ओर से, अथवा जो लोग 'फट् फट् स्वाहा', 'क्रां क्रूं', 'हुं हुं' करते हैं, उनकी अधोगति न होगी, तो किसकी होगी? 'कालः सुप्तेषु जागर्ति कालो हि दुरतिक्रमः' (सभी के सोने पर भी काल जागता ही रहता है, काल का अतिक्रमण करना बहुत कठिन है)। ईश्वर सब जानते हैं, भला उनकी आँखों में धूल कौन झोंक सकता है?

जिस देश में करोड़ों मनुष्य महुआ खाकर दिन गुजारते हैं, और दस-बीस लाख साधू और दस-बारह करोड़ ब्राह्मण उन गरीबों का खून चूसकर पीते हैं और उनकी उन्नति के लिए कोई चेष्टा नहीं करते, क्या वह देश है या नरक? क्या वह धर्म है या पिशाच का नृत्य? भाई, इस बात को गौर से समझो—मैं भारतवर्ष को घूम-घूमकर देख चुका और इस देश को भी देखा—क्या बिना कारण के कहीं कार्य होता है? क्या बिना पाप के सजा

मिल सकती है ?

सर्वशास्त्रपुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम् ।
परोपकारस्तु पुण्याय पापाय परपीड़नम् ।।

--'सब शास्त्रों और पुराणों में व्यास के ये दो वचन हैं--परोपकार से पुण्य होता है और परपीडन से पाप ।'

क्या यह सच नहीं है ?

भाई, यह सब देखकर--खासकर देश का दारिद्र्य और अज्ञता देखकर--मुझे नींद नहीं आती । मैंने एक योजना सोची तथा उसे कार्यान्वित करने का मैंने दृढ़ संकल्प किया । कन्याकुमारी में माता कुमारी के मन्दिर में बैठकर, भारत की अन्तिम चट्टान पर बैठकर मैंने सोचा . . . कि हमने राष्ट्र की हैसियत से अपना व्यक्तित्व खो दिया है, और यही सारी खराबी का कारण है । हमें राष्ट्र को उसके खोये हुए व्यक्तित्व को वापस देना है और जन-समुदाय को उठाना है । हिन्दू, मुसलमान, ईसाई सभी ने उन्हें पैरों तले रौंदा है । उनको उठानेवाली शक्ति भी अन्दर से अर्थात् कट्टर हिन्दुओं से ही आएगी । प्रत्येक देश में बुराइयाँ धर्म के कारण नहीं, बल्कि धर्म को न मानने के कारण ही विद्यमान रहती हैं । अत: धर्म का कोई दोष नहीं, दोष मनुष्यों का है ।

यह सब करने के लिए पहले जन चाहिए, फिर धन । गुरु की कृपा से मुझे हर एक शहर में दस-पन्द्रह जन मिल ही जाएँगे । मैं धन की चेष्टा में घूमा, पर भारतवर्ष के लोग भला धन देंगे !!! मूर्ख, मतिभ्रष्ट

और स्वार्थपरता की मूर्ति, भला वे धन देंगे ! इसीलिए मैं आया हूँ; स्वयं धन कमाऊँगा, और तब देश लौटकर अपने जीवन के इस एकमात्र ध्येय की सिद्धि के लिए अपना शेष जीवन निछावर कर दूँगा।

जैसे हमारे देश में सामाजिक गुणों का अभाव है, वैसे यहाँ आध्यात्मिकता का अभाव है। मैं इन्हें आध्यात्मिकता प्रदान कर रहा हूँ और ये मुझे धन दे रहे हैं। कितने दिनों में कृतकार्य हूँगा, यह नहीं जानता। हमारे समान ये लोग पाखण्डी नहीं और इनमें ईर्ष्या बिल्कुल नहीं है। मैं किसी भी भारतवासी के भरोसे नहीं हूँ। स्वयं प्राणपण चेष्टा से अर्थ-संग्रह करके अपना उद्देश्य सफल करूँगा, अथवा उसी के लिए मर मिटूँगा। 'सन्निमित्ते वरं त्यागो विनाशे नियते सति' (जब मृत्यु निश्चित है, तो किसी सत्कार्य के लिए मरना ही श्रेयस्कर है)।...

हम जैसे कूपमण्डूक दुनिया भर में नहीं हैं। कोई भी नयी चीज किसी देश से आये, तो अमेरिका उसे सबसे पहले अपनाएगा। और हम ? अजी, हमारे ऐसे ऊँचे खानदानवाले दुनिया में और हैं ही नहीं ! हम तो 'आर्यवंशी' जो ठहरे !! कहाँ है वह आर्यवंश, इसे तो हम जानते नहीं !

...एक लाख लोगों के दबाने से तीस करोड़ लोग कुत्ते के समान घूमते हैं,और वे 'आर्यवंश' हैं ! ! ! किमधिकमिति,

विवेकानन्द

मन और उसका निग्रह

स्वामी बुधानन्द

(गतांक से आगे)

२८. मन के छल से सावधान

हमें जान रखना चाहिए कि कभी कभी मन अपने साथ छल करता है, यानी अवचेतन मन चेतन से कपट करता है। जब हम चेतन स्तर पर किसी प्रलोभन या दुर्बलता से संघर्ष करते होते हैं, तो अचानक हमारे मानस-पटल पर एक अधिक दुर्दशापूर्ण अवस्था का चित्र कौंध जाता है और हम भयभीत होकर हैरत में पड़ जाते हैं--- 'ऐसी कठिनाइयाँ अगर मुझे घेर लें, तो मैं क्या करूँगा ?' अपने भविष्य की चिन्ता करने से हम अपने वर्तमान को गँवा बैठते हैं। असावधान रहने के कारण हम वर्तमान के प्रलोभन द्वारा बहा लिये जाते हैं।

हम इस तोड़फोड़ से अपनी रक्षा कैसे करें ? हम काल सम्बन्धी अपनी धारणा को स्पष्ट बनाकर ऐसा कर सकते हैं। जर्मन रहस्यवादी मीस्टर एक्हार्ट का कथन है--- 'इस क्षण के हृदय में शाश्वत समाया हुआ है'। हमें स्पष्ट रूप से देखना चाहिए कि हर क्षण केवल 'यह क्षण' ही है। यदि हमने इस क्षण की जिम्मेदारी निभा ली, तो हमने समस्त भविष्य की भी जिम्मेदारी निभा ली। यदि हम इस क्षण प्रलोभन के फेर में नहीं पड़ते हैं और सदैव ही इस क्षण प्रलोभन से बचे रहते हैं, तो हम कभी भी उसके फेर में नहीं पड़ेंगे। अतएव परिस्थिति चाहे

जैसी हो, हम इस क्षण अपने संकल्प में दृढ़ रहें, और हमें सफलता मिलेगी ही। भविष्य माया को छोड़कर कुछ नहीं है। जब शैतान हमारे वर्तमान को खा जा रहा है, तो उसे बचाना छोड़ भविष्य की चिन्ता करना केवल मूर्खता ही है।

आध्यात्मिक जीवन की चुनौती बड़ी सरल है और वह यह कि केवल इस क्षण के लिए हम भले, यथार्थ में नैतिक और अपने आपके स्वामी बन जायँ। भला इस क्षण के बाहर दूसरा समय है कहाँ, जिसकी हम चिन्ता करें?

२९. मनःसंयम में विश्वासी लाभ में रहते हैं

जहाँ तक मनःसंयम का प्रश्न है, जो ईश्वर में विश्वास करते हैं उन्हें उनकी अपेक्षा एक स्पष्ट लाभ होता है जो ईश्वर में विश्वास नहीं करते। जब ईश्वर में विश्वास पैदा करने का हृदय से अभ्यास किया जाता है, तो मन के संयम में हमें सशक्त सहायता मिलती है। भक्ति के अभ्यास के द्वारा ईश्वर के लिए अनुराग बढ़ता है; और ईश्वर के प्रति यह अनुराग मनःसंयम की बाधाओं को दूर करने का आश्चर्यजनक काम करता है। श्रीरामकृष्ण के शब्दों में--

बाघ जैसे दूसरे पशुओं को खा जाता है, वैसे ही 'अनुरागरूपी बाघ' काम-क्रोध आदि रिपुओं को खा जाता है। एक बार ईश्वर पर अनुराग होने से फिर काम-क्रोध आदि नहीं रह जाते। गोपियों की ऐसी ही अवस्था हुई थी। श्रीकृष्ण पर उनका ऐसा ही अनुराग था।†

† श्रीरामकृष्णवचनामृत, भाग १, पंचम संस्करण, पृ. २४३।

जब काम, क्रोध आदि अन्य रिपु दूर होते हैं, तो मन शुद्ध हो जाता है। शुद्ध मन सरलतापूर्वक नियन्त्रण में आ जाता है। पर अविश्वासी को बड़ी कठोर और लम्बी मेहनत करनी पड़ेगी, क्योंकि जब तक वह अपना अविश्वास नहीं छोड़ता, ईश्वर के लिए उसमें अनुराग नहीं पैदा हो सकता।

श्रीकृष्ण उपदेश करते हैं--

मेरा जो भक्त अभी जितेन्द्रिय नहीं हो सका है और संसार के विषय जिसे बार बार बाधा पहुँचाते रहते हैं—अपनी ओर खींच लिया करते हैं, वह भी मेरी प्रगल्भ भक्ति के प्रभाव से प्राय: विषयों से पराजित नहीं होता।†

ईश्वर-विश्वासी के जीवन में मन की पवित्रता जिस मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया में से होकर आती है, वह सरल है। जब उसमें ईश्वर के प्रति अनुराग उत्पन्न होता है, तब उसका मन उसी पर रमा रहता है, क्योंकि हम स्वाभाविक ही अपने प्रेमास्पद में रम जाते हैं। हमारा मन जिस पर केन्द्रित होता है, हम उसके गुणों को आत्मसात् कर लेते हैं। अतएव हम जब ईश्वर पर अपने मन को केन्द्रित करते हैं, तो, गीता की भाषा में, हम अपने भीतर दैवी सम्पद्‡ को आत्मसात् करते हैं। हृदय की पवित्रता, इन्द्रियों का दमन, क्रोध का अभाव, मन की प्रशान्ति

---

† बाध्यमानोऽपि मद्भक्तो विषयैरजितेन्द्रियः।
प्रायः प्रगल्भया भक्त्या विषयैर्नाभिभूयते ॥—भागवत, ११/१४/१८

‡ १६/१-२।

और बुद्धि की स्थिरता--ये दैवी सम्पदों में से कुछ सम्पद् हैं, जिनकी प्राप्ति ईश्वर का एक सच्चा भक्त बिना किसी विशेष प्रयत्न के कर लेता है। दूसरे शब्दों में, वह अपने आप ही मन पर नियन्त्रण पा लेता है।

३०. मनोनिग्रह का सबसे सरल और अचूक उपाय

हमने मनोनिग्रह के उपायों पर कुछ चर्चा की है। पर एक सत्य को फिर से दुहराया जा सकता है। श्रीरामकृष्ण और श्रीमाँ सारदा इन दोनों ने इस सत्य पर बड़ा जोर दिया है। श्रीरामकृष्ण कहते हैं--

जिन लोगों का मन इन्द्रिय-विषयों में आसक्त है, उनके लिए सबसे उत्तम यही है कि वे द्वैतवादी दृष्टिकोण अपनायें और भगवान् के नाम का 'नारद पांचरात्र' के निर्देशानुसार जोरों से कीर्तन करें।†

एक दूसरे अवसर पर श्रीरामकृष्ण ने एक भक्त से कहा था--

भक्ति-पथ के द्वारा ज्ञानेन्द्रियाँ शीघ्र और स्वाभाविक रूप से नियन्त्रण में आती हैं। जैसे जैसे तुम्हारे हृदय में ईश्वरीय प्रेम बढ़ेगा, वैसे वैसे तुम्हें दुनिया के सुख अलोने मालूम पड़ेंगे। जिस दिन अपना बच्चा मर गया हो, उस दिन देह का सुख क्या पति और पत्नी को आकर्षित कर सकता है?

भक्त—पर मैंने ईश्वर को प्यार करना तो नहीं सीखा।

श्रीरामकृष्ण—सतत उनका नाम लो। इससे तुम्हारा सारा पाप, काम और क्रोध धुल जायगा तथा दैहिक सुखों की लालसा दूर हो जायगी।

---

† Sayings of Sri Ramakrishna, saying 349.

भक्त--पर मुझे उनके नाम में तो कोई रस नहीं मिलता।

श्रीरामकृष्ण--उन्हीं के पास आकुल होकर प्रार्थना करो, जिससे तुममें उनके नाम के लिए रुचि उत्पन्न हो। उनसे कहो, 'प्रभो, मुझे तुम्हारे नाम में कोई रुचि नहीं होती है'। देखोगे, वे अवश्य ही तुम्हारी प्रार्थना स्वीकार करेंगे. . .। यदि सन्निपात का रोगी भोजन का सारा स्वाद गँवा बैठे, तो उसके बचने की आशा नहीं। पर यदि वह भोजन में तनिक भी रस लेता है, तो तुम उसके अच्छे होने की आशा रख सकते हो। इसी लिए मैं कहा करता हूँ--उनके नाम में रस का अनुभव करो। कोई भी नाम ले लो--दुर्गा, कृष्ण, चाहे शिव। यदि दिन दिन तुम अपने भीतर उनके नाम के प्रति अधिकाधिक आकर्षण अनुभव करो और तुम्हें अधिक आनन्द मिलने लगे, तो फिर डरनें की कोई बात नहीं। सन्निपात को दूर करना ही होगा; देखोगे, तुम पर उनकी कृपा अधिक बरसेगी। †

यही सत्य श्रीमाँ सारदा देवी के जीवन और उपदेशों से भी समान शक्ति के साथ ध्वनित होता है--

श्रीमाँ अपनी खाट पर बैठी हुई थीं। शिष्य भक्तों से आयी चिट्ठियाँ उन्हें पढ़कर सुना रहा था। चिट्ठियों में कुछ ऐसे कथन थे--'मन को वश में नहीं किया जा सकता, आदि आदि।' श्रीमाँ ने इन पत्रों को सुना और आवेग-भरे स्वर में कहने लगीं, 'यदि कोई रोज पन्द्रह से बीस हजार का जप करता है, तो मन स्थिर होता है। यह बिल्कुल सत्य है। मैंने स्वयं इसका अनुभव किया है। पहले ये लोग इसका अभ्यास तो करें, और यदि असफल हो जायँ, तो भले ही शिकायत करें। भक्तिपूर्वक जप का अभ्यास करना चाहिए। पर यह तो करेंगे नहीं; वे करेंगे कुछ नहीं और केवल शिकायत करते रहेंगे, "मैं सफल क्यों

† वही, saying 350.

नहीं हो रहा हूँ"?' †

श्रीमाँ ने मन को वश में करने का यह जो उपाय बताया है, उससे सरल और सशक्त उपाय और कोई भी नहीं है। पर इसको सरल हृदय से स्वीकार करना चाहिए और इसका अभ्यास करना चाहिए। हम स्वयं अपने तईं श्रीमाँ के इन शब्दों की परीक्षा कर लें और देखें कि हमारे जीवन में उनकी बातें सत्य घटती हैं या नहीं।

किन्तु यहाँ पर एक चेतावनी अवश्य दे देनी चाहिए कि जो अभी अभी साधना प्रारम्भ कर रहा है, उसके लिए अचानक एक दिन में बीस हजार बार भगवान् के नाम का जप करना उचित नहीं है। साधक को सामान्य रूप से यथासम्भव संख्या लेकर प्रारम्भ करना चाहिए और नियमित अभ्यास करते हुए, गुरु के निर्देशानुसार, उसे धीरे धीरे बढ़ाते जाना चाहिए। सबसे महत्त्वपूर्ण बात तो यह है कि अभी से ठीक दिशा में कुछ करना प्रारम्भ कर देना चाहिए।

ईश्वर के समीप नियमित समय पर प्रतिदिन सत्प्रवृत्ति और मन की शुद्धता के लिए आकुल प्रार्थना बड़ी सहायक होगी। मन की शुद्धता और मन की निरुद्ध अवस्था ये दोनों एक ही हैं। श्रीरामकृष्ण कहते हैं कि हृदय से निकली हुई प्रार्थना का उत्तर प्राप्त होता है।

ज्यों ज्यों प्रार्थना का हमारा अभ्यास तीव्र होता है,

---

† स्वामी तपस्यानन्द एवं निखिलानन्द कृत 'श्री सारदा देवी : दि होली मदर', श्रीरामकृष्ण मठ, मद्रास, १९४९, पृ. ४८९।

तो एक परिणाम दृष्टिगत होगा। क्रमशः हम देखेंगे कि हमारी प्रार्थना का स्वरूप बदलता रहा है--पहले वह अधिक वस्तु-केन्द्रित थी, अब अधिक ईश्वर-केन्द्रित हो गयी है। हमारी रुचि ईश्वर से माँग की जानेवाली वस्तु में केन्द्रित न होकर अब ईश्वर में अधिक केन्द्रित हो गयी है। अब याचना ईश्वर के प्रति प्रेम में परिवर्तित हो गयी है। ईश्वर के प्रति यह प्रेम ही मन के निग्रह में सबसे महत्त्वपूर्ण अंग है।

प्रारम्भ में ऐसा लग सकता है कि हमारे हृदय में यह प्रेम बिल्कुल है ही नहीं और यदि है तो बहुत अस्पष्ट-सा। पर सत्संग, भगवन्नाम का जप, सन्त-महापुरुषों के जीवन और उपदेशों का अध्ययन, विधिपूर्वक पूजा-उपासना तथा भजन-कीर्तन आदि से यह प्रेम क्रमशः बढ़ाया जा सकता है। और जब वह एक प्रबल शक्ति के रूप में हमारे भीतर खड़ा हो जाता है, तो हम मन:संयम की बाधक शक्तियों को सरलतापूर्वक परास्त करने में समर्थ हो जाते हैं। व्यक्ति के जीवन में एक ऐसा समय आता है, जब मन अपने ही आप हमारे परम प्रेम के विषय की ओर झुकने लगता है। मन की ऐसी अवस्था में आनन्द की उपलब्धि होती है। जब इस अवस्था में हम दृढ़ रूप से स्थित हो जाते हैं, तो अपने ही आप मन का निग्रह हमारे लिए सध जाता है।

अत: मन को नियन्त्रित कैसे करें इस प्रश्न का सबसे पूरा उत्तर यह है-- ईश्वर से प्यार करो। पर

यदि तुम ईश्वर में विश्वास नहीं करते, तो अपने आप पर विश्वास करो। अपनी इच्छाशक्ति का सहारा लेकर पुरुषार्थ के द्वारा तीनों गुणों को लाँघ जाओ। इस तरह से भी तुम मनोजय करने में समर्थ होगे।

किसी भी दशा में, चाहे कोई विश्वासी हो या अविश्वासी, मनोनिग्रह का एक न एक उपाय सदैव खुला ही रहता है। जीवन में मन:संयम की अवस्था से बढ़कर और कोई मंगल नहीं। हम इस अवस्था को पाने के लिए यथासम्भव प्रयास करें, क्योंकि वही तो हमें सर्वोच्च मंगल की ओर ले जायगी।

सारांश

मन:संयम एक वीर पुरुष के लिए भी सदैव से कठिन कार्य रहा है; किन्तु वह असम्भव नहीं है। उसके लिए सुनिर्दिष्ट उपाय हैं।

मन:संयम का सारा रहस्य श्रीकृष्ण ने 'अभ्यास' और 'वैराग्य' इन दो शब्दों में व्यक्त कर दिया है।

इन दोनों को जीवन में उतारने के लिए हमें मन:-संयम हेतु दृढ़ इच्छाशक्ति का विकास करना चाहिए; हमें अपने मन का स्वभाव समझना चाहिए; हमें कुछ प्रक्रियाएँ जान लेनी चाहिए और उनका अभ्यास करना चाहिए।

इच्छाशक्ति को दृढ़ करने के लिए हमें अपनी सुख-भोग की स्पृहा पर विजय पानी पड़ती है तथा यह भी समझ लेना पड़ता है कि मनोनिग्रह में किस बात की आवश्यकता है।

मन का स्वभाव हिन्दू-दृष्टिकोण के अनुसार 'विवेकानन्द ग्रन्थावली' में समझाया गया है।

मनोनिग्रह में समर्थ होने के लिए हमें यह जानना आवश्यक है कि अपने कार्य को अनावश्यक रूप से कठिन होने से कैसे बचायें।

मन:संयम सम्बन्धित मनुष्य का व्यक्तिगत कार्य है। मनःसंयम का लक्ष्य ईश्वर के साथ अपने पूर्ण एकत्व का अनुभव करना है। इसके लिए कोई भी कीमत कम ही है। मनोनिग्रह की साधनाओं का प्रभावी रूप से अभ्यास करने में समर्थ होने के लिए हमें एक अनुकूल आभ्यन्तरिक वातावरण की आवश्यकता होती है। जीवन की कतिपय बातों को अपरिहार्य मानकर चलने का सामर्थ्य भी इसी के अन्तर्गत आता है।

मन:संयम के लिए हमें दो प्रकार के भीतरी अनुशासनों की आवश्यकता होती है-- एक, मन को एक स्वस्थ सामान्य दिशा प्रदान करने के लिए और दो, आपत्कालीन स्थिति में हमारी रक्षा के लिए।

मन जितना शुद्ध होगा, उसे वश में करना उतना ही सरल होगा। अतएव हमें मन को शुद्ध करने की साधनाओं का अभ्यास करना होगा। अपने भीतरी स्वभाव में सत्त्व की प्रधानता लाना और तत्पश्चात् प्रामाणिक साधनाओं के अनुसार सत्त्व को शुद्ध करके लाँघ जाना-- यही हमारा लक्ष्य होना चाहिए।

पर उसको साधने का सबसे सरल उपाय है सत्संग।

वैदान्तिक साधनाओं को अधिक फलप्रद बनाने के लिए उनके साथ महर्षि पतंजलि द्वारा उपदिष्ट योग-साधनाएँ जोड़ी जा सकती हैं।

योग की साधनाओं के अभ्यास के साथ ही विवेक का अभ्यास भी चलना चाहिए। तभी हम मन को वर्तन करना सिखलाने में समर्थ हो सकेंगे। जब मन वर्तन करना सीख लेता है, तो इन्द्रियाँ भी यह सीख लेती हैं कि अपने विषयों के सम्पर्क में आने से कैसे बचा जाय तथा मन की आज्ञा का पालन कैसे किया जाय। तब प्रत्याहार में हमारी स्थिति हो जाती है।

प्रमुख साधनाओं के सफल अभ्यास में उल्लेखनीय सहायता प्रदान करनेवाले और भी कई आनुषंगिक उपाय होते हैं, जिनकी ओर हमें ध्यान देना चाहिए। ये उपाय हैं—— अपने मानवीय सम्बन्धों को ठीक रखना, मन को स्वस्थ रूप से सक्रिय बनाये रखना, कल्पना का सम्यक् उपयोग करना और हताशा से बचना।

ध्यान के अभ्यास से मनोनिग्रह में बड़ी सहायता मिलती है और मनोनिग्रह ध्यान में सहायक होता है। भीतर की विस्फोटक परिस्थितियों में उच्चशक्तिसम्पन्न आपत्कालीन रोक लगाने के लिए पतंजलि की शिक्षा यह है—— विपरीत विचारों को उठाने का अभ्यास करो। भगवान् के नाम का अनवरत जप और कीर्तन करो और उनकी शरण में चले जाओ।

प्रणालीबद्ध रूप से विचार का संयम करना मनो-

निग्रह का एक बड़ा रहस्य है।

अवचेतन को बिना वश में किये मन को वश में नहीं किया जा सकता। मन में मानो पवित्र विचारों को ढालते हुए तथा प्राणायाम एवं भक्ति आदि की साधना करते हुए अवचेतन को निग्रह में लाया जा सकता है। इससे मनुष्य में निहित कुण्डलिनी रूपी आध्यात्मिक शक्ति जाग उठती है।

हम हानिप्रद कल्पना से सावधान रहें। केवल इस क्षण के लिए पूरी तरह नैतिक होने से और फिर दूसरे क्षण उस दूसरे क्षण भर के लिए तथा इसी प्रकार हर क्षण के लिए नैतिक होने से हम हानिकारक कल्पनाओं से बच सकते हैं। मनोनिग्रह में विश्वासी व्यक्ति लाभ में रहते हैं।

मनोनिग्रह का सबसे सरल और अचूक उपाय है ईश्वर पर अनुराग।

जो ईश्वर में विश्वास नहीं करते, वे पुरुषार्थ के द्वारा गुणों को लाँघकर मन:संयम कर ले सकते हैं।

मन:संयम महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि यह उच्चतम मंगल की--आत्मा की ज्ञानमय अवस्था की प्राप्ति कराता है।

(समाप्त)

स्वामी कल्याणानन्द

डा० नरेन्द्र देव वर्मा

एक बार स्वामी विवेकानन्दजी ने गाँव से मठ में स्थायी रूप से रहकर सेवाकार्य करने के लिए आये नवयुवक को बुलाकर पूछा, "मान लो मुझे कुछ पैसे की जरूरत है। इसके लिए अगर मैं तुम्हें चाय-बागान में कुली के रूप में बेच दूँ, तो क्या तुम राजी होगे ?" वह नवयुवक बिना किसी हिचकिचाहट के बेचे जाने के लिए राजी हो गया। स्वामीजी इस नवयुवक की सरलता और समर्पण-भाव को देखकर अत्यन्त प्रसन्न थे और उन्होंने सन् १८९८ के एक पुनीत दिन उसे संन्यास-धर्म में दीक्षित कर स्वामी कल्याणानन्द बना दिया।

स्वामी कल्याणानन्द का पूर्व नाम दक्षिणारंजन गुह था। वे बरिशाल जिले के वजीरपुर के समीपवर्ती हानुआ नामक गाँव में सन् १८७४ में पैदा हुए थे। उनके पिता श्री उमेशचन्द्र गुह एक सम्भ्रान्त परिवार के व्यक्ति थे, किन्तु लक्ष्मी की उन पर कृपा न थी। दक्षिणारंजन अपने पिता की एकमात्र सन्तान थे, पर शीघ्र ही उनके पिता जाते रहे और उनका लालन-पालन उनकी विधवा माता के द्वारा हुआ। दक्षिणारंजन को माता के दूध के साथ ही भगवद्भक्ति और संसार के प्रति अनासक्ति के संस्कार मिले थे। यथासमय उनके ताऊ ने उन्हें विद्याभ्यास कराया और उन्होंने बानरीपाड़ा उच्च विद्यालय से प्रवेशिका की परीक्षा भी उत्तीर्ण की, पर अर्थाभाव के

कारण उनकी आगे की पढ़ायी नहीं हो पायी। फिर, उनकी रुझान संसार की ओर नहीं थी और वे धर्मग्रन्थों के अध्ययन में तल्लीन रहा करते थे। दक्षिणारंजन के पास श्री सुरेशचन्द्र दत्त द्वारा संकलित 'श्रीश्रीरामकृष्ण उपदेश' नामक पुस्तक भी थी, जिसका वे निरन्तर पारायण किया करते थे।

जिन दिनों स्वामी विवेकानन्दजी पाश्चात्य देशों में वेदान्त का प्रचार कर रहे थे और वहाँ के प्रखर बुद्धिवादी जन स्वामीजी के चरणों के समीप बैठकर अपने जीवन को सार्थक बना रहे थे, तब नवीन भारत की भी आँखें खुलीं और उसे युगाचार्य की महत्ता का ज्ञान हुआ। तब स्वामीजी कोटि-कोटि भारतीय युवकों के आराध्यदेव बन गये थे। युवकगण समाचार-पत्रों में भारतात्मा विवेकानन्द के पाश्चात्य-विजय के समाचारों को अत्यन्त उत्कण्ठापूर्वक पढ़ा करते। दक्षिणारंजन के हृदय में भी स्वामीजी की बातें एक अलौकिक भाव-तरंग उठा दिया करती थीं। स्वामीजी द्वारा प्रचारित 'शिवज्ञान से जीव-सेवा' के आदर्श ने दक्षिणारंजन को तीव्र रूप से अनुप्राणित कर दिया और वे बड़ी व्याकुलता से उस क्षण की प्रतीक्षा करने लगे, जब उन्हें युगाचार्य विवेकानन्द के दर्शन प्राप्त करने का सौभाग्य मिलता।

दक्षिणारंजन के हृदय में बाल्यकाल से ही सेवाभाव और परोपकार के संस्कार विद्यमान थे। स्वामीजी के नवीन आदर्श ने उन्हें अपनी ओर खींचा। फलस्वरूप

उनके मन में अपने जीवन को समर्पित कर देने की इच्छा बलवती होने लगी और वे सन् १८९८ में मठ में आ गये। उन दिनों मठ नीलाम्बर मुकर्जी के बेलुड़ स्थित मकान में अवस्थित था। स्वामीजी भी उन दिनों मठ में निवास कर रहे थे। उनका दर्शन करके दक्षिणारंजन कृतकृत्य-से हो गये। वैराग्य-अनल की दीप्ति से दमकते हुए श्रीरामकृष्ण देव के संन्यासी-शिष्यों ने दक्षिणारंजन का बड़ी आत्मीयता से स्वागत किया और उनके मंगल-मय साहचर्य में दक्षिणारंजन की सुषुप्त आध्यात्मिकता जाग्रत् हो उठी। स्वामीजी के कृपाकटाक्ष ने इस ग्रामीण नवयुवक दक्षिणारंजन को स्वामी कल्याणानन्द बना दिया और उनका सेवा-भाव का आदर्श इस नवीन शिष्य के जीवन में साकार हो उठा।

स्वामी कल्याणानन्द का जीवन परोपकार और सेवा के अत्युच्च आदर्शों से भरा था। मठ में रहते समय साधन-भजन और गुरु-सेवा के साथ ही वे मठ के अन्यान्य कार्यों को भी सहर्ष किया करते। आसपास के दीन-हीन रुग्ण जनों को देखकर उनका हृदय द्रवित हो जाता और वे उनकी पीड़ा का निवारण करने के लिए जुट जाते। स्वामी योगानन्दजी की रुग्णावस्था में कल्याणानन्द उनकी सेवा में तन-मन से लग गये थे। सन् १८९९ में जब स्वामी विवेकानन्द दूसरी बार पश्चिमी देशों की यात्रा पर निकले, तब कल्याणानन्द के हृदय में में भी तीर्थदर्शन और तपस्या करने की इच्छा जाग्रत्

हुई। वे काशी चले आये तथा यहाँ केदारनाथ एवं चारुचन्द्र दास इत्यादि युवकों के साथ आध्यात्मिक साधना में जुट गये। कल्याणानन्द के सेवानिष्ठ जीवन का इस युवक-मण्डली पर भरपूर प्रभाव पड़ा और कालान्तर में केदारनाथ और चारुचन्द्र क्रमशः स्वामी अचलानन्द और स्वामी शुभानन्द के नाम से रामकृष्ण मठ में विख्यात हुए। इन्हीं नवयुवकों के सहयोग से कल्याणानन्द ने काशी में सेवाश्रम का बीज बोया था। काशी से प्रयाग पहुँचकर कल्याणानन्द ने 'इलाहाबाद अनाथालय' के कार्यकर्ताओं को स्वामीजी के नवीन युगधर्म का पाठ पढ़ाया। जयपुर में अपने गुरुभाई स्वरूपानन्द से उनकी अप्रत्याशित रूप से भेंट हो गयी। उन दिनों किशनगढ़ जिले (राजस्थान) में भयानक अकाल पड़ा था। अकालग्रस्त लोगों की पीड़ा को दूर करने के लिए अपनी तीर्थयात्रा का कार्यक्रम रद्द कर दोनों संन्यासीगण किशनगढ़ पहुँचे और सहायता-कार्य में जुट गये। स्थानीय लोगों की सहायता से उन्होंने भिक्षा से प्राप्त अन्न के द्वारा प्रतिदिन लगभग तीस हजार व्यक्तियों के भोजन की व्यवस्था की। इसी समय अनाथ बालकों के लिए एक अनाथाश्रम की स्थापना भी कल्याणानन्द ने की। कालान्तर में स्वरूपानन्द मायावती चले गये, किन्तु कल्याणानन्द किशनगढ़ में ही अकालग्रस्त लोगों के दुःखों को दूर करने के प्रयास में जुटे रहे। अत्यधिक परिश्रम के फलस्वरूप वे अस्वस्थ हो

गये। फलतः उनकी सहायता के लिए मठ से स्वामी आत्मानन्द और निर्मलानन्द भी वहाँ आ गये। इसी बीच काशी से केदारनाथ भी किशनगढ़ पहुँच गये थे। इनके समवेत प्रयास से अकालग्रस्त लोगों की सहायता का कार्य बड़ी तीव्रता से चल निकला।

सन् १९०० के दिसम्बर मास में स्वामी विवेकानन्द बेलुड़ लौटे। उन दिनों कल्याणानन्द वृन्दावन में थे। स्वामीजी के आगमन का समाचार पाकर वे उनके दर्शनों के लिए बेलुड़ पहुँचे। कल्याणानन्द के सेवा-कार्यों की सूचना स्वामीजी को पहले ही मिल चुकी थी। स्वामीजी इस सेवाभाव को अपने प्रिय शिष्य के जीवन में उत्तरोत्तर वर्धित करते हुए पराकाष्ठा पर पहुँचा देना चाहते थे। एक दिन उन्होंने कल्याणानन्द से कहा, "देख कल्याण! क्या तू ऋषिकेश-हरिद्वार के रुग्ण साधुओं के लिए कुछ कर सकेगा?" स्वामीजी उत्तराखण्ड की यात्रा करते समय इस अंचल के वृद्ध और रोगी साधुओं की असहाय दशा को देख अत्यन्त व्याकुल हो गये थे और वे तब से ऐसे साधुओं की सेवा-चिकित्सा के सम्बन्ध में विचार कर रहे थे। स्वामीजी के आदेश को कार्यरूप में परिणत करने के लिए कल्याणानन्द तत्काल तत्पर हो उठे और उनका आशीर्वाद लेकर वे हरिद्वार के लिए निकल पड़े। पहले वे मायावती पहुँचे, जहाँ स्वामी स्वरूपानन्द अद्वैत आश्रम का कार्य देख रहे थे। कल्याणानन्द के शुभ संकल्प की जानकारी

पाकर वे अत्यन्त प्रसन्न हुए और उन्होंने उनके साथ इस पुनीत कार्य के लिए धन जुटाने हेतु नैनीताल आदि स्थानों की यात्रा की।

हरिद्वार उत्तराखण्ड का प्रवेश-द्वार है। शताब्दियों से यह भारत के एक महान् तीर्थ के रूप में प्रतिष्ठित है। पुण्यतोया गंगा के तट पर कुटी बना सैकड़ों साधु-संन्यासी यहाँ परमात्म-चिन्तन करते हुए वास करते हैं। जिस समय स्वामी विवेकानन्दजी यहाँ पहुँचे थे, उस समय रुग्ण एवं असहाय वृद्ध साधुओं की चिकित्सा का यहाँ कोई प्रबन्ध नहीं था। कल्याणानन्द ने गुरुदेव की इस पुनीत इच्छा को चरितार्थ करने का संकल्प लिया था। उन्होंने हरिद्वार में गंगा के दूसरे तट पर स्थित कनखल में सेवा-साधना का केन्द्र स्थापित करने का विचार किया। सन् १९०१ के जून महीने में उन्होंने तीन रुपये किराये पर दो कमरे लिये और साधुओं एवं रुग्णों की सेवा प्रारम्भ कर दी। इन कमरों में रोगियों की शय्या, चिकित्सालय और उनके स्वयं का निवास भी था। वे होम्योपैथी की दवाइयाँ और अन्य कुछ उपकरण जुटाकर सेवा के महान् व्रत में लग गये। वे प्रतिदिन साधुओं की कुटियों में जाकर पीड़ित साधुओं का समाचार प्राप्त करते और उनके औषधि-पथ्य की व्यवस्था करते। नितान्त नि:सम्बल साधुओं को शुश्रूषा के लिए कनखल ले आते और स्वयं उनकी सेवा करते। वे स्वयं भिक्षान्न पर निर्वाह करते तथा भिक्षा से प्राप्त

धन एवं औषधि को रुग्णों की सेवा और पथ्य में लगा देते। यह उनकी महती सेवा-भावना का ही सुफल है कि कनखल स्थित सेवाश्रम आज एक महत्त्वपूर्ण सेवा-प्रतिष्ठान के रूप में विकास को प्राप्त हुआ है।

उन दिनों स्वामी स्वरूपानन्द और विमलानन्द 'प्रबुद्ध भारत' का सम्पादन कर रहे थे। प्रति मास 'प्रबुद्ध भारत' में कनखल स्थित सेवाश्रम का विवरण और आय-व्ययक प्रकाशित किया जाता था। इससे भारत के अन्य प्रदेशवासी भी हिमालय में चल रहे इस सेवाकार्य के प्रति आकृष्ट हुए। हरिद्वार के साथ ही कल्याणानन्द ने इन दिनों ऋषिकेश में भी सेवाश्रम की शाखा प्रारम्भ कर दी, पर व्यावहारिक कठिनाइयों के कारण इसे कुछ समय उपरान्त बन्द कर देना पड़ा। धीरे धीरे कनखल का कार्य बढ़ने लगा, जिससे अधिकाधिक धन और सेवाभावी व्यक्तियों की आवश्यकता प्रतीत हुई। स्वामी विवेकानन्द तब बेलुड़ मठ में निवास कर रहे थे। कल्याणानन्द के सेवा-कार्यों की जानकारी पाकर वे अत्यन्त प्रसन्न थे तथा उनकी बड़ी प्रशंसा करते थे। पर स्वामीजी का स्वास्थ्य अच्छा नहीं जा रहा था। जब कल्याणानन्द को यह समाचार प्राप्त हुआ, तो वे मठ चले आये।

इस समय उन्हें कुछ अधिक दिनों तक स्वामीजी के चरणों के समीप रहने का सुयोग मिला। वे तो गुरुगत-प्राण थे। एक बार स्वामीजी के लिए बर्फ की आवश्यकता

पड़ी। कल्याणानन्द तत्काल कलकत्ता पहुँचे और वहाँ से आधा मन बर्फ सिर पर रखकर पैदल ही मठ आ गये। कल्याणानन्द की श्रद्धा और गुरुभक्ति को देख स्वामीजी ने कहा था, "भविष्य में ऐसा दिन भी आयेगा, जब कल्याणानन्द परमहंसत्व प्राप्त कर धन्य हो उठेगा।" कालान्तर में स्वामीजी की यह वाणी अक्षरशः चरितार्थ हुई थी।

एक दिन कल्याणानन्द को कर्मयोग तथा व्यावहारिक वेदान्त का रहस्य बताते हुए स्वामीजी ने कहा था, "देख कल्याण! मेरी क्या इच्छा है, तू जानता है? साधु-ब्रह्मचारीगण एक ओर तो मन्दिर में रहें और वहाँ ध्यान-धारणा करें, और दूसरी ओर जो ध्यान करें उसे व्यावहारिक रूप से कार्य में उतारें।" उस समय वहाँ अचलानन्द भी उपस्थित थे। गुरुदेव के इन मंत्र-दीप्त वचनों का स्मरण करते हुए उन्होंने बाद में कहा था, "स्वामीजी कल्याणानन्द को यह समझा देना चाहते थे कि 'व्यवहार में उतरा वेदान्त ही असली है। वेदान्त को केवल सिद्धान्तों में बाँधकर मत रखो, उसे व्यवहार में उतारो'।" इस प्रकार स्वामीजी ने अपनी अहैतुकी कृपा से कल्याणानन्द के सेवाभाव को और भी उद्दीप्त कर दिया। ध्यान और नररूपी नारायण की सेवा उनके जीवन में श्वास-प्रश्वास की भाँति सहज हो उठे। स्वामीजी का आशीर्वाद प्राप्त कर वे पुनः कनखल पहुँचे और अपने को गुरु के आदेश की सिद्धि में पूरी तरह से लगा

दिया। अब सेवा-कार्य का पर्याप्त विस्तार हो चला था, अतः उन्हें परिश्रम भी बहुत करना पड़ता था। फलस्वरूप उनका स्वास्थ्य भग्न होने लगा। यह देख स्वामीजी ने निश्चयानन्द को उनकी सहायता के लिए भेजा। निश्चयानन्द को प्राप्त कर कल्याणानन्द हर्षित हो उठे और दूनी गति से सेवा-कार्य में लग गये। ऋषिकेश में स्थापित सेवाश्रम की शाखा फिर से प्रारम्भ कर दी गयी।

सन् १९०३ में कलकत्ता के उदारचेता व्यक्तियों से प्राप्त दान से कल्याणानन्द ने सेवाश्रम के लिए कनखल में पन्द्रह बीघा भूमि खरीदी और वहीं कुटिया बनाकर रहने लगे। इस अवधि में उनकी प्रसिद्धि आसपास एक कुशल चिकित्सक के रूप में हो गयी थी। वे स्वयं घूम-घूमकर दरिद्र और अछूत समझे जानेवाले व्यक्तियों की चिकित्सा करते। वे साधुओं से लेकर चाण्डालों तक की समान रूप से सेवा करते और उनका मलमूत्र भी साफ करते। हरिद्वार के दशनामी सम्प्रदाय के संन्यासी-जन कल्याणानन्द और निश्चयानन्द की सेवापरायणता को देखकर आश्चर्यचकित थे, पर वे लोग उन्हें 'भंगी साधू' कहा करते। उनका विचार था कि मलमूत्र साफ करने का कार्य भंगियों का है, संन्यासियों का नहीं। उन साधुओं को वेदान्त की केवल सैद्धान्तिक जानकारी थी और वे सर्वभूतों में ब्रह्मदर्शन के वेदान्तोपदिष्ट आदर्श में प्रतिष्ठित नहीं हो पाये थे। पर इसी बीच एक ऐसी घटना घटी, जिससे दशनामी सम्प्रदाय के

साधुओं की दृष्टि में हठात् परिवर्तन हो गया। उन दिनों ऋषिकेश के 'कैलास मठ' के मण्डलेश्वर स्वामी धनराज गिरि का दशनामी सम्प्रदाय में अत्यन्त सम्मानित स्थान था। एक बार दो सेठ-बन्धु उनके पास आये और धर्मशाला या मठ बनवाने की इच्छा प्रकट की। स्वामी गिरिजी ने उनसे कहा कि यदि वे सचमुच कुछ करना चाहते हैं, तो वे जाकर कनखल में स्वामी विवेकानन्दजी के संन्यासी-शिष्यों के कार्यों को देखें। यदि वे उन लोगों के कार्य में कुछ सहायता कर सकें, तो वह उनका महान् दान होगा। इससे वे प्रसन्न होंगे और सेठ-बन्धुओं का भी मंगल होगा। जब सेठ-बन्धुओं ने कल्याणानन्द एवं निश्चयानन्द के सेवाकार्य का अवलोकन किया, तो वे वेदान्त के जीवन्त व्यवहार को देखकर विस्मयाभिभूत हो उठे और उन्होंने इस महान् कार्य के निमित्त कल्याणानन्द के चरणों में दान देने की इच्छा प्रकट की। उन्हीं के उदार दान के फलस्वरूप सन् १९०४ में कनखल सेवाश्रम के स्थायी भवन का निर्माण हुआ। इस भवन का नक्शा स्वामी विवेकानन्दजी के गुरुभाई स्वामी विज्ञानानन्दजी द्वारा तैयार किया गया था। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि उत्तराखण्ड की यात्रा के समय स्वामी विवेकानन्दजी ने स्वामी गिरिजी से भेंट की थी और शास्त्र-विचार किया था। बाद में स्वामी अभेदानन्दजी भी उनसे मिलने गये थे और स्वामीजी के गुरुभाई के रूप में अपना परिचय देते हुए उन्होंने

उनसे वेदान्त का अध्ययन किया था।

स्वामी गिरिजी की स्वामी विवेकानन्दजी के शिष्यों के प्रति उच्च भावना का परिचय पाकर दशनामी साधुओं के विचारों में भी परिवर्तन होने लगा और जब दशनामी सम्प्रदाय के भण्डारे के समय स्वामी गिरिजी ने कल्याणानन्द और निश्चयानन्द को सम्मानपूर्वक आमन्त्रित कर अपने पार्श्व में आसन प्रदान किया, तब तो मानो सभी साधुओं की आँखें खुल गयीं और तदुपरान्त वे उन्हें सम्मान और श्रद्धा की दृष्टि से देखने लगे।

स्वामी कल्याणानन्द ने स्वामीजी द्वारा प्रवर्तित व्यावहारिक वेदान्त के महान् सन्देश को कनखल के सेवाश्रम के माध्यम से साकार करने का सफल प्रयास किया था। सेवाश्रम-स्थित मन्दिर में नित्य आरती-प्रार्थना होती, ध्यानगृह में ध्यान किया जाता और तदुपरान्त ब्रह्मतेज से दीप्त संन्यासीगण रुग्ण-दुःखी मानवता की सेवा का अनुष्ठान करते थे। श्रीरामकृष्ण देव के संन्यासी-शिष्य समय-समय पर वहाँ आकर निवास करते और कल्याणानन्द का उत्साह बढ़ाया करते। स्वामी शिवानन्दजी अपने परिभ्रमण-काल में कनखल में अनेक दिनों तक रुके थे। सन् १९०३ में रामकृष्ण मठ एवं मिशन के प्रथम अध्यक्ष स्वामी ब्रह्मानन्द ने काशी से आकर वहाँ एक मास तक निवास किया था। सन् १९१२ में स्वामी ब्रह्मानन्द पुनः शिवानन्द, तुरीयानन्द तथा अन्य गुरुभाइयों एवं भक्तों के साथ

कनखल आये और सात महीने रहे। इस बार उनकी इच्छानुसार कलकत्ता से दुर्गा की प्रतिमा लायी गयी और दुर्गोत्सव का आयोजन किया गया। इस अवसर पर साधुओं के लिए एक विशाल भण्डारे की व्यवस्था की गयो थी। स्वामी ब्रह्मानन्दजी सेवाश्रम के कार्य से अत्यन्त प्रसन्न थे तथा अपना आशीर्वाद देते हुए उन्होंने कहा था कि सेवाश्रम "विराट् की उपासना का एक ऐसा मन्दिर है, जिसके उद्बोधन से सेवक, कर्मी और सेव्य सभी धन्य होंगे।"

स्वामी शिवानन्दजी और तुरीयानन्दजी का कल्याणानन्द के प्रति बड़ा स्नेहभाव था। स्वामी तुरीयानन्दजी के आने पर सेवाश्रम में मानो वेदान्त की गंगा प्रगल्भ वेग से प्रवाहित होने लगती तथा उनके मंगलमय साहचर्य से कनखल की धर्मप्राण जनता भी कृतार्थ हो उठती। श्रीरामकृष्ण देव और स्वामीजी के जीवन के अनेकानेक प्रसंगों की चर्चा कर तुरीयानन्दजी अलौकिक भावधारा बहा दिया करते थे। एक बार उन्होंने स्वामीजी के सम्बन्ध में कहा था, "वे निर्भीक थे। उन्होंने कोई समझौता न कर सर्वोच्च सत्य का प्रचार किया था। वे केवल देते थे, बदले में कुछ नहीं चाहते थे। दूसरे लोग तो चुटकी भर देकर बदले में टोकरी भर पाना चाहते हैं!" कल्याणानन्द की तुरीयानन्दजी के प्रति भी गुरु-दृष्टि थी। उनके आने पर कल्याणानन्द का दिन अलौकिक भावराज्य में बीता करता।

कनखल सेवाश्रम का कार्य व्यापक हो चला था। चिकित्सालय के अन्तर्विभाग और बहिर्विभाग में प्रति वर्ष सैकड़ों रुग्ण साधु एवं दीन-हीन व्यक्ति बिना किसी शुल्क के चिकित्सा प्राप्त कर स्वस्थ होते थे। सन् १९०३, १९१५ और १९२७ में हरिद्वार में कुम्भ का आयोजन हुआ था, जिसमें लाखों धर्मप्राण व्यक्ति उपस्थित हुए थे। इन अवसरों पर कल्याणानन्द ने अपूर्व रूप से तीर्थयात्रियों की सेवा के कार्य का परिचालन किया था। सन् १९०५ में उन्होंने एक ग्रन्थालय की शुरुआत भी की थी तथा दीन-दरिद्र एवं अस्पर्श्य वर्ग के लोगों की शिक्षा के लिए सन् १९१३ में रात्रि-पाठशाला की स्थापना की थी। कालान्तर में इसे मेहतरों के मुहल्ले में स्थानान्तरित कर दिया गया। इस समय तक सरकार या अन्य किसी संस्था के द्वारा हरिजनों की शिक्षा की ओर ध्यान नहीं दिया गया था। कल्याणानन्द द्वारा हरिजनों के उत्थान का यह कार्य महात्मा गाँधी के अछूतोद्धार कार्यक्रम से भी पहले परिचालित हुआ था।

स्वामी कल्याणानन्द सेवाश्रम को ईश्वरीय उपासना के लिए मन्दिर के रूप में देखते थे। स्वामी विवेकानन्दजी को केन्द्र में रखकर उन्होंने अपने जीवन को साधना, कर्म, सेवा और उपासना का श्रेष्ठ उदाहरण बना लिया था। वे स्वामीजी को ध्यान-धारणा एवं सेवा-साधना के जीवन्त विग्रह के रूप में देखते थे तथा वे ही उनके महत्तम आदर्श थे। स्वामीजी के प्रति भक्ति और श्रद्धा से उनका

हृदय लबालब भरा हुआ था। स्वामीजी की बातें करते ही उनका कण्ठ भर आया करता था। एक बार उन्होंने कहा था, "देखो, स्वामीजी की बातें मैं क्या कहूँ! उनके नेत्र प्रकाश से इतने उच्छलित होते रहते थे मानो ज्योति की तरंगें निकल रही हों। जब कभी उनसे आँखें मिलतीं, तो सिर आप ही आप नीचे हो जाता और मैं भूमि की ओर देखने लगता। वे जब ध्यान करते, तो वह एक अपूर्व दृश्य होता। ऐसा लगता मानो वे प्रस्तर-मूर्ति हों। हम लोग भी ठाकुरघर में ध्यान करते, पर डर-डरकर साँस छोड़ते कि कहीं हमारे निःश्वास की ध्वनि से उनके ध्यान में विघ्न न हो जाय। अहा! कैसा दिव्य चेहरा था! जैसे तुम चित्र में देखते हो--एक हाथ पर दूसरा हाथ रखे हुए। घण्टे पर घण्टे--लगभग तीन-चार घण्टे वे रोज प्रातःकाल ठाकुरघर में एक ही आसन पर बैठे ध्यानमग्न रहते।"

स्वामीजी के देवदुर्लभ रूप के चिन्तन-मनन से कल्याणानन्द का जीवन निरन्तर दिव्य भाव से पूर्ण रहा करता था। उनका रहन-सहन अत्यन्त सादगी से भरा था। कोई भी अच्छा वस्त्र प्राप्त होते ही वे तत्काल उसे किसी दरिद्र रोगी को दे दिया करते। दीर्घकाल के कठिन परिश्रम से उनका शरीर धीरे धीरे टूटता जा रहा था। अन्त-अन्त में उन्हें बहुमूत्र व्याधि हो गयी। स्वास्थ्य-लाभ के लिए वे कुछ दिन अलमोड़ा और मसूरी में रहे, किन्तु उनकी दशा में कोई विशेष सुधार नहीं

हुआ। २० अक्तूबर, सन् १९३७ को रात्रि ११ बजकर १० मिनट पर 'माँ, माँ, माँ' का उच्चारण करते हुए कल्याणानन्द महासमाधि में निमग्न हो गये। उनके प्रति श्रद्धांजलि निवेदित करते हुए 'उद्बोधन' के सम्पादकीय लेख में लिखा गया--"स्वामी कल्याणानन्द के जीवन में मानो गुरुभक्ति और सेवा दोनों साकार हो उठे थे। वे यथार्थ कर्मयोगी थे तथा आचार्य विवेकानन्द के उपयुक्त शिष्य थे। इसमें सन्देह नहीं कि उनके समान महाप्राण साधक के तिरोधान से केवल रामकृष्ण मठ और मिशन की ही विशेष क्षति नहीं हुई, प्रत्युत देश की भी महती क्षति हुई है।"

मानस-पीयूष

धर्मसार, धर्म और धर्माभास

पं० रामकिंकर उपाध्याय

(आश्रम में प्रदत्त प्रवचन का एक अंश)

भरतजी गुरु वसिष्ठ तथा अयोध्या के नागरिकों के साथ चित्रकूट में भगवान् राम से भेंटकर अयोध्या वापस लौटते हैं। यहाँ आकर वे सोचते हैं कि नन्दी ग्राम में निवास करते हुए राज्य का संचालन किया जाय। ऐसा करने से पूर्व वे गुरु वसिष्ठ से आज्ञा प्राप्त करना आवश्यक समझ उनके पास जाते हैं और प्रणाम करके कहते हैं--'यदि मेरा कार्य अनुचित न हो और आप उसे धर्म के अनुकूल समझें, तो मुझे आज्ञा दीजिए कि

मैं नन्दीग्राम में रहता हुआ राज्य का संचालन करूँ।' भरतजी के इन वचनों को सुन गुरु वसिष्ठ भाव में विह्वल हो जाते हैं और बड़े अनुराग-भरे शब्दों में कह उठते हैं--'भरत! तुम मुझसे आज्ञा माँगते हो और पूछते हो कि तुम्हारा कार्य धर्मानुकूल होगा या नहीं; तो सुनो, मैंने धर्म की एक नयी परिभाषा बनायी है--

समुझब कहब करब तुम्ह जोई।

धरम सारु जग होइहि सोई॥ २।३२२।८

--जो तुम समझोगे, जो कहोगे और जो करोगे, वही धर्म का सार होगा।'

यह धर्मसार शब्द बड़े महत्त्व का है। वसिष्ठजी की दृष्टि में श्री भरत जो कुछ समझते, कहते और करते हैं, वह धर्म का सार है। इस शब्द पर थोड़ा विचार करें और देखें कि कितने चिन्तन के पश्चात् वसिष्ठजी ने भरतजी के लिए यह शब्द कहना आवश्यक समझा।

धर्मसार का शाब्दिक अर्थ है--धर्म का सार। दृष्टान्त के लिए एक फल ले लीजिए; जैसे, आम का फल। फल में तीन चीजें हैं--छिलका, गुठली और रस। ये तीनों फल के लिए आवश्यक हैं। छिलके के द्वारा फल सुरक्षित रहता है, मलिन नहीं हो पाता; गुठली के द्वारा उसकी परम्परा बनी रहती है--गुठली को जमीन में लगा दीजिए, आम का नया वृक्ष खड़ा हो जायगा; और रस तो महत्त्वपूर्ण है ही। निस्सन्देह आम के ये तीनों

भाग आवश्यक हैं। पर यदि आम का खानेवाला आम के रस के साथ उसकी गुठली और छिलके को भी खा जाय, यह सोचकर कि ये दोनों भी बड़े महत्त्वपूर्ण हैं, तो आप उसे क्या कहेंगे ? छिलका और गुठली आवश्यक अवश्य हैं, पर जिस समय हम आम का रस ले रहे हों, उस समय उचित यह है कि हम छिलके को अलग कर दें तथा रस ग्रहण कर गुठली को भी त्याग दें। यदि कोई इन तीनों को खा जाय, अथवा रस को छोड़ केवल छिलके और गुठली को ले ले, तो ऐसे व्यक्ति के लिए कोई नवीन उपाधि ढूँढ़नी पड़ेगी ! इस तरह व्यक्तियों को तीन श्रेणियों में बाँटा जा सकता है--एक वे, जो आम का रस लेते हैं; दूसरे वे, जो रस के साथ छिलके और गुठली को भी ग्रहण करते हैं; तथा तीसरे वे, जो रस को छोड़ छिलके और गुठली को लेते हैं। इन्हें हम क्रमशः धर्मसार, धर्म और धर्माभास कह सकते हैं। छिलके और गुठली को छोड़ केवल रस का ग्रहण करना 'धर्मसार' हुआ; छिलका, गुठली तथा रस तीनों को ले लेना 'धर्म' की बात हुई तथा रस को छोड़ छिलका और गुठली स्वीकार करना हुआ 'धर्माभास'। और तीनों से विभिन्न है अधर्म। भरतजी के लिए 'धर्मसार' शब्द प्रयुक्त करने में गुरु वसिष्ठ का अभिप्राय यह था कि मैंने अभी तक केवल धर्म को समझा था, पर भरत को देखने के पश्चात् धर्मसार क्या है, यह समझ पाया। गुरु वसिष्ठ उन लोगों में से नहीं थे, जो दूसरों की प्रशंसा में

अनावश्यक शब्दों का प्रयोग करते रहे हों। अपने यजमानों तथा वरिष्ठ व्यक्तियों की प्रशंसा में यथेच्छ शब्दों का उपयोग करनेवाले अनेक व्यक्ति मिलेंगे, पर गुरु वसिष्ठ ऐसे व्यक्तियों में से नहीं थे। वे तो परम त्यागी तथा सर्वथा निःस्पृह थे, जिन्होंने बड़ी कठिनाई के पश्चात् सूर्यवंश का पौरोहित्य स्वीकार किया था। प्रारम्भ में गुरु वसिष्ठ और भरतजी की दृष्टियों में बड़ा मतभेद था, पर ज्यों ज्यों गुरु वसिष्ठ भरतजी को समझने लगते हैं, उनकी आस्था भरतजी में बढ़ती जाती है; और जब वे उन्हें पूरी तरह समझ जाते हैं, तब उनके मुँह से अनायास ये शब्द निकलते हैं कि 'भरत! जो तुम समझोगे, कहोगे और करोगे, वह केवल धर्म ही नहीं, धर्मसार होगा।'

अयोध्या में गुरु वसिष्ठ ने भरतजी के विषय में यह जो बात कही, उसके मूल में धर्माभास, धर्म और धर्मसार का संघर्ष है। इससे भिन्न और एक नगर है--लंका, जहाँ अधर्म का राज्य है। अयोध्या में धर्माभास, धर्म और धर्मसार का जो उत्तरोत्तर विकास होता है, उसकी परिणति रामराज्य की स्थापना में होती है।

महाराज दशरथ अयोध्या में रामराज्य की स्थापना करना चाहते हैं। वे अपना संकल्प पूरा करने के लिए उतावले हो रहे हैं, पर उनका संकल्प पूरा नहीं हो पाता। क्यों?--इसलिए कि महाराज दशरथ यह मान बैठे थे कि राघवेन्द्र को सोने के सिंहासन पर बिठा देने से

रामराज्य हो जायगा। किन्तु रामराज्य, किसी को स्वर्ण-सिंहासन पर बिठाने मात्र से नहीं हो जाता। रामराज्य का तात्पर्य धर्मराज्य नहीं। धर्मराज्य तो अयोध्या में विद्यमान है ही। रामराज्य धर्मराज्य से आगे की बात है। धर्मराज्य व्यवस्था का राज्य है, पर भगवान् राम का राज्य व्यवस्था का राज्य नहीं। व्यवस्था का राज्य दूसरा होता है। मुझे एक प्रसंग याद आता है। कई वर्ष पूर्व एक न्यायाधीश महोदय ने न्यायालय के प्रांगण में मेरा एक कार्यक्रम रखा। मैंने उनसे पूछा कि किस विषय पर बोलूं। उन्होंने अपने सहज स्वभाव में कहा--आप रामराज्य की न्याय-व्यवस्था पर बोलिए। मैंने कहा--आपने मुझे बड़ी कठिनाई में डाल दिया। भगवान् राम के राज्य में कोई बहुत अच्छी न्याय-व्यवस्था रही हो इसका उल्लेख तो नहीं मिलता। वहाँ कितने न्यायालय और कितने न्यायाधीश थे, इसका भी पता नहीं चलता। बात तो यह है कि उनके राज्यकाल में केवल तीन झगड़े उपस्थित हुए और उन्होंने उन्हें बड़ी सरलता से निपटा दिया। एक राज्य तो वह है, जहाँ न्यायालय ही न हो और दूसरा राज्य वह है, जहाँ बहुत से न्यायालय हों तथा जहाँ बहुत बढ़िया न्याय होता हो। यह बात बड़ी अच्छी है कि न्याय बहुत सुन्दर होता है, पर इसका अर्थ यह भी है कि जहाँ न्यायालय बहुत हैं, वहाँ झगड़े भी बहुत होते हैं। अगर झगड़ालू लोग न रहें, तो न्यायालय की जरुरत ही न

पड़े। अतः रामराज्य वह है, जहाँ न्यायालय की ही आवश्यकता न हो। जहाँ न्यायालय बहुत हों और न्याय बहुत अच्छा होता हो, उसे रामराज्य नहीं, धर्मराज्य कहना उचित होगा। रामराज्य का तात्पर्य हृदय के परिवर्तन से है, राज्य-व्यवस्था से नहीं। किसी सभा में जूते रखने का उत्तम प्रबन्ध देखकर हम कह उठते हैं कि यहाँ बड़ी अच्छी व्यवस्था है। पर व्यवस्था इसलिए है कि कई लोग जूते चुराने की नीयत से आते हैं। अगर चुराने की दृष्टि से कोई न आये, तो प्रबन्ध की आवश्यकता ही न पड़े। इसी प्रकार हृदय में जब ऐसा परिवर्तन आ जाय कि मन में पापवृत्ति का ही उदय न हो, तभी रामराज्य की स्थापना होती है। महाराज दशरथ यह मानते हैं कि रघुवंश में परम्परा से ज्येष्ठ पुत्र ही राज्य का उत्तराधिकारी होता है। अतः अगर मैं राघवेन्द्र को सिंहासन पर बिठा दूँ, तो रामराज्य हो जायगा। पर उनका संकल्प पूरा नहीं हो पाता। क्यों?--इसलिए कि भगवान् राम यह बताना चाहते थे कि जब तक धर्म और धर्माभास के स्थान पर धर्मसार नहीं आ जाता, तब तक रामराज्य नहीं बन सकता। जब तक बाहर लंका विद्यमान रहे, जहाँ अधर्म-राज्य है और भीतर अयोध्या में धर्म-राज्य बना रहे, तो केवल स्वर्णसिंहासन में बैठने मात्र से रामराज्य नहीं बन पायगा। यह तो अच्छाई और बुराई का समझौता हो जायेगा, और जहाँ अच्छाई और बुराई का समझौता होता हो, वहाँ राम-

राज्य की स्थापना नहीं हो सकती।

तो, एक ओर लंका है, जहाँ अधर्म का राज्य है और दूसरी ओर है अयोध्या, जहाँ आन्तरिक शान्ति का अभाव है। ऐसी स्थिति में भगवान् के सिंहासन पर बैठकर राज्य करने से रामराज्य नहीं हो सकता था। भगवान् ने अन्त में यह दिखा दिया कि जब तक बाह्य और आन्तरिक दुर्गुणों का नाश नहीं हो जाता, रामराज्य नहीं बन सकता। इसलिए कार्यों का विभाजन कर लिया जाता है। बाह्य दुर्गुणों के नाश का कार्य भगवान् राम और लक्ष्मण लेते हैं तथा अयोध्या के आन्तरिक दुर्गुणों और दुर्बलताओं के विरुद्ध संघर्ष का कार्य भरत और शत्रुघ्न को सौंपा जाता है।

लंका में अधर्म का राज्य है यह तो सबको ज्ञात है, पर अयोध्या में भी दुर्बलता और बुराइयाँ हैं इसका पता नहीं चलता। बाहर से अयोध्या बड़ी पवित्र प्रतीत होती है। पर अन्दर की दुर्बलता कैकेयी और मन्थरा के माध्यम से बाद में प्रकट होती है। कैकेयी के जीवन में हम धर्माभास पाते हैं। प्रारम्भ में कैकेयीजी के जीवन में धर्म का व्यवहार था और धर्माभास तब दिखायी पड़ा, जब उनका मन्थरा के साथ मिलन हुआ। मन्थरा की बातों से कैकेयी प्रभावित होती हैं। मन्थरा है लोभवृत्ति और कैकेयी हैं क्रियाशक्ति। लोभ और क्रिया इन दोनों का साथ साथ रहना स्वाभाविक है। जब मनुष्य क्रिया करेगा, तो लोभ होगा ही। इसमें आपत्ति की कोई बात

नहीं। जब तक कैकेयी स्वामिनी थीं और मन्थरा उनकी दासी, तब तक बात ठीक थी; किन्तु जब कैकेयी मन्थरा की अनुगामिनी हो गयीं और मन्थरा उन पर अपनी सम्मति चलाने लगी, तभी अनर्थ घटित हुआ। इसका तात्पर्य यह कि जब तक क्रिया के पीछे लोभ रहे, तब तक कोई बुराई नहीं, पर जहाँ लोभ के पीछे क्रिया चलने लगे, तभी अनर्थ घटित होता है। पहले क्रिया-शक्तिरूपिणी कैकेयी आगे थीं और लोभवृत्तिरूपिणी मन्थरा उनके पीछे, किन्तु अब मन्थरा आगे आ गयी। लोभवृत्ति ने क्रियाशक्ति को पीछे कर दिया। मन्थरा ने दो वरदान मँगवाये। दो क्यों? लोभी का स्वभाव ही ऐसा होता है। लोभी को अपनी हानि से ही दुख नहीं होता, दूसरे का लाभ देखकर भी दुख होता है, तथा वह केवल अपने लाभ में ही सुखी नहीं होता, वरन् दूसरे की हानि देख उसे प्रसन्नता का अनुभव होता है। इसी-लिए जब कैकेयी के अन्तःकरण में लोभवृत्ति ने अधिकार जमाया, तो उन्होंने दो वरदान माँगे। एक तो यह कि मेरे पुत्र को राज्य मिले और दूसरा यह कि पराये पुत्र को वन। स्वयं को लाभ हो और दूसरे को हानि, तभी यह लोभवृत्ति सन्तुष्ट होती है। अब हम देख पायेंगे कि कैकेयीजी के जीवन में धर्माभास किस तरह धर्म की आड़ लेकर प्रकट होता है। जब कैकेयीजी ने महाराज दशरथ से ये दो वरदान माँगे, तो महाराज मर्माहत हो उठे। वे कैकेयी को समझाने लगे कि कैकेयी, जरा सोचो

तो सही, यह तुम क्या करने जा रही हो ? सारी अयोध्या राम को साधु कहती है । यही नहीं--

तुहूँ सराहसि करसि सनेहू ।

अब सुनि मोहि भयउ सन्देहू ॥ २/३१/७

--तुम भी तो राम की प्रशंसा करती थीं, उससे इतना स्नेह करती थीं । अब यह सुनकर मुझे सन्देह हो गया है । राजा दशरथ को बिलखते देख कैकेयी के मुख से धर्म की बात निकलती है--

सिबि दधीचि बलि जो कछु भाषा ।

तनु धनु तजेउ बचन पनु राखा ॥ २/२९/७

--महाराज ! शिबि, दधीचि और बलि ने जो कुछ कहा, देह और धन त्यागकर भी उन्होंने अपने वचन की प्रतिज्ञा निबाही । फिर आपका जन्म तो रघुवंश में हुआ है । आप सत्यनिष्ठ हैं । मैं तो आपको इन्हीं महापुरुषों की श्रेणी में लाना चाहती हूँ । आपको ऐतिहासिक बनाने के लिए ही मैं आपसे ये वर माँग रही हूँ ! साथ ही कैकेयी ने यह व्यंग्य भी किया--

जानेहु लेइहि मागि चबेना । २/२९/६

--आपने क्या यह सोचा था कि मैं चबेना माँगूँगी ? क्या कोई चबेना दान करके शिबि और दधीचि की श्रेणी में आ सकता है ? आपका नाम तो तभी होगा, जब आप सत्य की रक्षा करें, उसका पालन करें। कैकेयी सत्य और धर्म की दुहाई देती हैं। धर्म की दुहाई कैसे ? महाराज दशरथ ने कहा--

सबु कोउ कहइ रामु सुठि साधू। २/३१/६

—सभी कहते हैं कि राम बड़े ही साधु हैं। कैकेयी ने कहा—मैं भी तो राम को साधु मानती हूँ। महाराज दशरथ बोले—यदि तुम साधु मानती हो, तो फिर ऐसा क्यों कर रही हो? कैकेयी ने कहा—राम साधु हैं, इसीलिए तो ऐसा कर रही हूँ। आप ही बताइए, भोग श्रेष्ठ है अथवा त्याग?

अब धर्म इसका क्या उत्तर देगा? अगर किसी से पूछा जाय कि धर्म में त्याग श्रेष्ठ है अथवा भोग, तो कहना यही पड़ेगा कि भोग से त्याग श्रेष्ठ है। कैकेयी कहती हैं—इसीलिए तो मैंने यह निर्णय लिया कि जो बड़ा है, उसे बड़ा फल दे दिया जाय, त्याग दे दिया जाय; और जो छोटा है, वह तुच्छ फल ले ले, भोग ले ले। मेरा निर्णय उचित है। इसमें प्रतिकूलता कहाँ? फिर आपने ही कहा कि राम साधु हैं। तो, साधु को तो वन में ही रहना चाहिए। इसीलिए मैंने राम के लिए वन माँगा, कोई कारागार नहीं माँगा। फिर इसमें अधर्म की बात कहाँ हुई?

पुराणों में धर्म के चार चरण बतलाये गये हैं। गोस्वामीजी ने भी कहा है—

प्रगट चारि पद धर्म के कलि महुँ एक प्रधान।७/१०३ ख

ये चार चरण हैं—सत्य, तप, दान और दया। ये चारों धर्म के लक्षण है। पर यह धर्म धर्माभास भी हो जाता है। कैसे? कैकेयीजी इन चारों चरणों को पूरा

करती हैं। उन्होंने महाराज दशरथ से कहा--महाराज! धर्म का एक चरण सत्य है। आपने जो वचन दिया था, उसे पूरा कीजिए। सत्य के लिए त्याग कीजिए, तो उसका एक चरण पूरा हो जायगा। दूसरा चरण तप है। इसलिए--

तापस बेष बिसेषि उदासी।
चौदह बरिस रामु बनबासी॥ २/२८/३

--तपस्वियों के रूप में राम चौदह वर्षों तक वन में निवास करें। इससे दूसरा चरण पूर्ण हो जायगा। तप की रक्षा हो जायगी। धर्म का तीसरा चरण है--दान। आप राज्य का दान मेरे पुत्र भरत को कर दीजिए। इससे तीसरा चरण पूरा हो जायगा। और दया करने योग्य तो केवल एक ही व्यक्ति है--

भै मंथरा सहाय बिचारी। २/१५९/१

--बेचारी दासी मन्थरा दया की पात्र है, अतः उस पर दया कर धर्म का चौथा चरण पूर्ण कर दीजिए। तात्पर्य यह कि दया मन्थरा के लिए, दान भरत के लिए, तप भगवान् के लिए और सत्य दशरथ के लिए, इस प्रकार धर्म के चारों चरण पूर्ण हो गये! पर यहाँ व्यंग्य क्या है? ये धर्म के चारों चरण नहीं हैं। देखना यह है कि इन चारों में से अपने लिए क्या चुना गया और दूसरों के लिए क्या? धर्म तब धर्म रहेगा, जब सत्य और तप अपने लिए हो और दया एवं दान दूसरे के लिए। जब सत्य और तप दूसरे के लिए तथा दया और दान अपने

लिए चुन लिये जायँ, तब तो वह धर्म नहीं, धर्माभास हो जाता है। जहाँ व्यक्ति धर्म की आड़ लेकर केवल अपने स्वार्थ का चुनाव करता है, वह धर्माभास हो जाता है। कैकेयीजी के जीवन में हम यही धर्माभास पाते हैं। अब यह देखने का प्रयास करें कि वह धर्मतत्त्व और धर्मसार फिर क्या है, जिसे भगवान् राम और भरतजी मिलकर पूरा करते हैं।

कैकेयी अन्याय कर रही हैं। भगवान् राम को इसका विरोध करना चाहिए या नहीं? यह बड़ा सूक्ष्म प्रश्न है। ऐसे ही दृष्टान्तों को दृष्टि में रखकर गीता में कहा गया है--

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः। ४/१६

--बड़े बड़े विद्वानों को भी यह भ्रम हो जाता है कि कर्म क्या है और अकर्म क्या? भगवान् राम तो धर्म की रक्षा के लिए आये हैं और कैकेयी अधर्म और अन्याय कर रही हैं। भगवान् राम को चाहिए था कि वे कैकेयी की बात को अस्वीकार कर देते। पर भगवान् ने उसका विरोध नहीं किया, यही नहीं बल्कि उसे धर्म मान लिया। क्यों? कैकेयीजी धर्म का नाम लेकर भगवान् को वन में भेजना चाहती थीं और यदि भगवान् भी धर्म का नाम लेकर स्वयं राज्य करना चाहते, तो फिर यह लोभ और लोभ की लड़ाई हो जाती। फिर धर्म, धर्म न रह जाता। अतः प्रभु ने सोचा कि कैकेयीजी के इस धर्माभास के विरुद्ध यदि भरत विद्रोह करें, तब तो वह धर्मसार होगा, और यदि

वे स्वयं विद्रोह करें, तो वह धर्म-सा दिखायी तो देगा, पर वह सच्चा धर्म न होगा। प्रभु बड़े दूरदर्शी थे न; इसीलिए वे वन जाने के समाचार से बड़े प्रसन्न हुए।

एक सज्जन ने मुझसे कहा कि भरतजी बड़े कोमल प्रकृति के थे। मैंने कहा कि मैं ऐसा नहीं मानता। रामायण में भरतजी-जैसा कोमल तथा भरतजी-जैसा कठोर दूसरा कोई नहीं। कोमल तो इतने कि उनका प्रत्येक शब्द नम्रता और अनहंकारिता से जड़ा हुआ है और कठोर इतने कि उन्होंने जिस प्रकार के कठोर शब्दों का प्रयोग दूसरों के लिए किया, वैसा किसी और ने नहीं किया, यहाँ तक कि लक्ष्मणजी ने भी नहीं। सभी लक्ष्मणजी को कठोर कहा करते हैं, पर भरतजी की कठोरता उनसे भी बढ़कर है। लक्ष्मणजी तो कहते हैं--

गुर पितु मातु न जानउँ काहू। २/७१/४

--मैं आपको छोड़ गुरु, पिता, माता किसी को नहीं समझता। पर भरतजी यह करके दिखला देते हैं। लक्ष्मणजी ने कहा--मैं गुरु को नहीं मानता, किन्तु भरतजी तो साक्षात् गुरु वसिष्ठ की बात ठुकरा देते हैं। वसिष्ठजी ने उनसे शास्त्रों का हवाला देकर कहा कि राज्य चलाना तुम्हारा कर्तव्य है। भरतजी विनम्र इतने हैं कि--

भरतु कमल कर जोरि धीर धुरंधर धीर धरि।
बचन अमिअँ जनु बोरि देत उचित उत्तर सबहि॥२/१७६

—जब बोलते हैं, तो मानो सबको अमृत में डुबो देते हैं

और कठोर ऐसे कि गुरु वसिष्ठ की बातों को, जिनका समर्थन सारी अयोध्या कर रही है, ठुकरा देते हैं। उनसे कहा जाता है कि भगवान् राम ने जिसे धर्म कहा है, क्या तुम उसे स्वीकार नहीं करोगे ? श्रीभरत इतने साहसी हैं कि तत्काल कह देते हैं--जो उनका धर्म होगा, वह मेरा धर्म नहीं। ऐसी बात तो केवल भरतजी ही कह सकते थे और यही उनका धर्मसार था। गुरु वसिष्ठ के लिए उन्होंने कह दिया कि मैं तो समझता था--

गुर बिबेक सागर जगु जाना।
जिन्हहि बिस्व कर बदर समाना॥
मो कहँ तिलक साज सज सोऊ।
भएँ बिधि बिमुख बिमुख सबु कोऊ॥२/१८१/१-२

--'गुरुजी ज्ञान के सागर हैं, इस बात को सारा जगत् जानता है, जिनके लिए यह संसार हथेली में रखे बेर के समान है, वे भी मेरे लिए राजतिलक का साज सजा रहे हैं। सच बात है, विधाता के विपरीत होने पर सभी विपरीत हो जाते हैं !' भरतजी की वाणी लक्ष्मणजी से भी कठोर है। लक्ष्मणजी ने तो केवल भगवान् के सामने कठोर शब्द कहे, किन्तु भरतजी ने गुरु को ही ऐसा वचन सुना दिया।

लक्ष्मणजी ने कहा था कि मैं माता को नहीं मानता, और भरतजी कहते हैं--

बर मागत मन भइ नहिं पीरा।
गरि न जीह मुहँ परेउ न कीरा॥ २/१६१/२

--वर माँगते समय तेरे मन में कुछ भी पीड़ा नहीं हुई ? तेरी जीभ गल न गयी ? तेरे मुँह में कीड़े नहीं पड़ गये ?

यहाँ तक कि वे पिता को भी नहीं मानते। वे पिता के बड़े भक्त थे, पर उनके लिए भी कठोर शब्द कहने से नहीं चूके--

मरन काल बिधि मति हरि लीन्ही। २/१६१/३

--विधाता ने मरने के समय पिताजी की बुद्धि हर ली थी। मरते समय उनकी बुद्धि शुद्ध नहीं थी। अगर शुद्ध होती, तो वे धर्म का ठीक ठीक निर्णय कर पाते। ऐसी बात केवल भरतजी ही कह सकते थे। भगवान् राम कहते हैं कि पिताजी बड़े धार्मिक थे और भरतजी ने कहा कि पिताजी की बुद्धि शुद्ध नहीं थी। दोनों के वचनों में कैसा विरोधाभास है ! पर अपनी अपनी दृष्टि से दोनों का ही कहना उचित था। और यही धर्म का मूल तत्त्व है। धर्मसार की व्याख्या यह नहीं कि जो कुछ कहा जाय, वह सभी के लिए समान रूप से उपयोगी हो। धर्मसार तो वह है कि हम स्वयं निर्णय करें हमारे लिए कौनसा धर्म उपयुक्त है।

एक बार मैं काशी के एक प्रसिद्ध वैद्य शास्त्रीजी के पास बैठा हुआ था। एक सज्जन आये और बोले--हमारे भाई को अमुक रोग हो गया है, आप दवा दे दीजिए। शास्त्रीजी ने कहा--औषधालय से जाकर खरीद लीजिए। उन सज्जन ने कहा--आप भी तो वैद्य हैं, आप ही दवा

दे दीजिए। उन्होंने कहा--हम रोग की दवा नहीं देते, हम रोगी की दवा देते हैं! यह बड़े अचम्भे की बात थी। आयुर्वेद में रोग की दवा नहीं होती, रोगी की दवा होती है, अर्थात् अमुक रोग हुआ है इसलिए दवा नहीं दी जाती, किन्तु यह देखा जाता है कि रोगी की प्रकृति कैसी है और उसके अनुसार औषधि का निर्णय किया जाता है। धर्मसार का सारसर्वस्व यही है कि जो एक के लिए धर्म है, वह सभी के लिए नहीं हो सकता। जिसने एक धर्म को सबका धर्म माना, वह केवल धर्म तक ही पहुँचा, धर्मसार तक नहीं। भरतजी ने कहा कि पिताजी की बुद्धि मृत्यु के समय भ्रष्ट हो गयी थी और भगवान् राम कहते हैं, हमारे पिताजी इतने महान् थे कि--

राखेउ रायँ सत्य मोहि त्यागी। २/२६३/६

--उन्होंने मुझे त्यागकर सत्य को रखा। इन दोनों के कथनों का तात्पर्य क्या है? इन दोनों ने जो व्याख्या की, उसका अर्थ यह था कि उसमें व्यक्तिगत स्वार्थ न आने पाये। भरतजी का तर्क था कि पिताजी की बुद्धि ने ठीक निर्णय नहीं लिया। पर इस पर यह कहा जा जा सकता है कि महाराज दशरथ ने तो शास्त्रों की ही मर्यादा का पालन किया। शास्त्रों में लिखा है न कि सत्य का पालन सबसे बड़ा धर्म है? और उस सत्य की रक्षा के लिए उन्होंने यदि राम का त्याग कर दिया, तो उन्होंने धर्म की ही तो रक्षा की। यह तो उचित निर्णय ही था।

पर भरतजी कहते हैं——नहीं, यह उचित नहीं। यदि पिताजी को धर्म का ठीक ठीक ज्ञान होता, सत्य का सही निर्णय होता, तो वे विवेक से विचारते कि कैकेयीजी को दिया वचन सत्य है अथवा गुरु वसिष्ठ से कहा गया यह वचन कि मैं राम को राज्य दूँगा। उनके लिए कैकेयीजी को दिया गया वचन तो सत्य हो गया और गुरु, मंत्रियों तथा प्रजाजनों के सामने राम को राज्य देने का वचन सत्य नहीं रहा ! यदि आपसे कोई कहे कि आप मुझे वह वस्तु दे दीजिए, जो आपने दूसरे को दी है, उससे छीनकर मुझे ला दीजिए, तो क्या यह उचित होगा ? जो वस्तु आपने किसी को दान में दी है, उसे उससे छीन लें और दूसरे को फिर से दान में दे दें, तो क्या यह दान कहलायेगा ? भरतजी का कहना यह था कि जब कैकेयी अम्बा ने महाराज से वचन माँगा, तो उन्हें यह कह देना था कि मैंने राज्य तो अब राम को दे दिया है, अब जो बच रहा है उसमें से चाहे जो माँग लो। लेकिन उन्होंने ऐसा नहीं किया। उन्होंने गुरु वसिष्ठ, मंत्रियों तथा प्रजा के बीच की गयी भगवान् राम को राज्य देने की घोषणा को वचन नहीं माना और कैकेयीजी को दिये वचनों को सत्य मान लिया। अतः हम यह कैसे मान लें कि पिताजी ने धर्म का ठीक निर्णय किया ?

अब भगवान् राम से कोई पूछे कि भरतजी तो कहते हैं कि पिताजी ने धर्म का ठीक निर्णय नहीं किया, तो क्या आप उनसे सहमत हैं ? प्रभु कहेंगे——नहीं, नहीं,

पिताजी ने धर्म का बिल्कुल शुद्ध निर्णय लिया है। कैसे ? प्रभु का तर्क यह है कि यदि आपने किसी से कर्ज लिया हो और इस बीच आपके पास रुपया आ जाय और आप कर्ज न पटाकर उसे दूसरों को बाँटने लगें, या उड़ाने लगें, तो यह उचित न होगा। और यदि ऋणदाता आकर कहने लगे कि पहले हमारा ऋण पटाओ, फिर जो बचे उसे खर्च करना, तो यह ऋणदाता के पक्ष में अनुचित न होगा। हमारे पिताजी कैकेयी अम्बा के ऋणी थे और माँ की बिना आज्ञा के वे मुझे राज्य देने लगे। इस पर अगर माँ ने कह दिया कि पहले मेरा ऋण पटा दो, तो इसमें माँ का क्या अपराध ? तथा पिताजी ने न्याय की रक्षा के लिए यदि मुझे राज्य न देकर भरत को राज्य दे दिया, तो यह बिल्कुल ठीक ही किया। यह तो एकदम न्याययुक्त बात है कि जो ऋण पहले का हो, उसे पहले पटाया जाय।

अब धर्म की दो व्याख्याएँ हो गयीं। और इनका सार यही है कि दोनों ने धर्म की वही व्याख्या की, जिससे जीवन में त्याग आये। उन्होंने धर्म की वह व्याख्या नहीं की, जिसके द्वारा हमारा स्वार्थ सिद्ध हो। वस्तुतः वह तो धर्म की व्याख्या भी नहीं। धर्म यह सिखलाने के लिए नहीं है कि मनुष्य का स्वार्थ क्या है। वह तो हम बिना सिखाये ही सीखते हैं। धर्म का सही उद्देश्य मनुष्य को अधिकाधिक स्वार्थहीन बनाना है। भगवान् राम ने जब भरतजी की व्याख्या को सुना, तो

उसे लेकर उन्होंने भरतजी की ऐसी स्तुति कर दी कि भरतजी भी एक क्षण के लिए मौन रह गये। प्रभु वन जाते समय जब बाल्मीकिजी से मिले थे, तो उनसे कहा था——

तात बचन पुनि मातु हित भाइ भरत अस राउ।
मो कहुँ दरस तुम्हार प्रभु सबु मम पुन्य प्रभाउ॥२/१२५

——मुनिराज! पिता की आज्ञा का पालन, माता का हित, भरत-जैसे भाई का राजा होना और फिर आपका दर्शन होना, यह सब मेरे पुण्यों का प्रभाव है। कितना पुण्य मैंने जीवन में किया था कि मुझे वन में आने का सौभाग्य मिला। और जब भरतजी से पूछा गया कि भगवान् के वन जाने का क्या कारण था, तो भरतजी के उत्तर का मर्म यह था——

करम प्रधान बिस्व करि राखा।
जो जस करइ सो तस फल चाखा॥ २/२१८/४

——भाई! भगवान् ने विश्व में कर्म को ही प्रधान करके रखा है; जो जैसा संसार में कर्म करता है, वैसा ही भोगता है। हमारे प्रभु हैं बड़े उदार। उनमें पाप का लेशमात्र भी नहीं है। अत: उनके लिए फल भोगने का प्रश्न ही नहीं उठता। उन्होंने तो हमारा पाप ग्रहण कर उसके फलस्वरूप वन को जाना स्वीकार किया है। वास्तव में उनके वन जाने का कारण तो मैं हूँ——

मोहि समान को पाप निवासू।
जेहि लगि सीय राम बनबासू। २/१७८ ३

--मेरे समान पापों का घर दूसरा कौन होगा, जिसके कारण भगवान् और सीताजी को वन में जाना पड़ा ?

अत: जब चित्रकूट में भरतजी आये, तो प्रभु ने कहा--भरत ! मैं एक निर्णय पर पहुँचा हूँ कि तीनों कालों और लोकों में तुम्हारे जैसा पुण्यवान् न दूसरा कोई पैदा हुआ, न है और न होगा। भरतजी ने यह सुन सिर झुका लिया। प्रभु बोले--यदि मैं गलत कह रहा हूँ, तो बताओ तुम्हारी दृष्टि में बड़ा पुण्यात्मा कौन है ? श्री भरतजी ने प्रभु की ओर देखा और कहा--प्रभो ! पुण्य में तो केवल आप ही हैं, जीव में तो पाप और पुण्य मिले रहेंगे। प्रभु ने हँसकर कहा--भरत ! पहले मैं भी यही समझता था कि मैं ही सबसे बड़ा पुण्यात्मा हूँ। वन में आते ही मैंने वाल्मीकिजी से कहा था--

सबु मम पुन्य प्रभाउ।

--यह सब मेरे पुण्य का प्रभाव है कि मैं बन में आया। यदि मैं अपने को पुण्यात्मा न मानता, तो ऐसा कैसे कहता ? लेकिन अब मुझे पता चल गया कि तुमसे बढ़कर पुण्यात्मा दूसरा कोई नहीं।

--कैसे भगवन् ?

--जब मैंने सुना कि तुमने लोगों से यह कहा कि मैं तुम्हारे पापों के फलस्वरूप वन को आया हूँ, तो मुझे ज्ञात हो गया कि मेरा पुण्य और तुम्हारा पाप दोनों एक-जैसे हैं। जिसका पाप इतना ऊँचा हो कि उसका प्रभाव मेरे पुण्य के तुल्य हो, तो वह निश्चय ही मुझसे

बढ़कर पुण्यात्मा होगा। जिसका पाप इतना महान् हो कि उसके द्वारा इतना बड़ा लोक-कल्याण साधित हो, धर्म की सृष्टि हो, तो उसके जैसा महान् पुण्यात्मा दूसरा कौन होगा ? मैं तो चाहूँगा कि लोग ऐसा पाप करें। इसीलिए मैंने कहा——

तीनि काल तिभुअन मत मोरें।
पुन्यसिलोक तात तर तोरें॥ २/२६२/६

——मेरे मत में तीनों कालों तथा लोकों के सब पुण्यात्मा पुरुष तुमसे नीचे हैं।

यही धर्म का सारसर्वस्व है। कैकेयीजी के जीवन में धर्माभास था। महाराज दशरथ धर्म तक पहुँचे। उन्होंने जो वचन दिया, उसे पूरा किया। किन्तु सच्चे अर्थों में धर्मसार क्या है, यह तो श्रीभरत और भगवान् राम ने मिलकर ही बताया। वसिष्ठजी प्रारम्भ में इसे नहीं समझ पाये थे। वस्तुतः चित्रकूट में ही उन्होंने भरतजी को पहचाना और उन्हें मालूम पड़ गया कि भरतजी का जीवन ही धर्म की व्याख्या लिये हुए है। इसीलिए उन्होंने कहा कि आज तक मैं धर्म का निर्णय शास्त्रों से किया करता था, पर आज मैं समझ गया कि धर्मसार वही है जो कि भरत समझेंगे, कहेंगे और करेंगे !

गीता प्रवचन–२०

स्वामी आत्मानन्द

(आश्रम के रविवासरीय सत्संग में प्रदत्त व्याख्यान)

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥ २/१९॥

(यः) जो (एनं) इस [आत्मा] को (हन्तारं) मारनेवाला (वेत्ति) जानता है (यः च) और जो (एनं) इसे (हतं) मारा गया (मन्यते) मानता है (तौ उभौ) वे दोनों (न) नहीं (विजानीतः) जानते (अयं) यह [आत्मा] (न) न (हन्ति) मारता है (न) न (हन्यते) मारा जाता है।

"इस आत्मा को जो मारनेवाला समझता है और जो उसे मारा गया मानता है, वे दोनों ही नहीं जानते हैं। यह आत्मा न तो मारता है, न मारा ही जाता है।"

न जायते म्रियते वा कदाचिन्-
नायं भूत्वा भविता वा न भूयः ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥ २/२०॥

(अयं) यह (कदाचित्) कभी (न) नहीं (जायते) जन्मता (वा) या (म्रियते) मरता (वा) या (न भूत्वा) नहीं होकर (भूयः) फिर से (भविता) हो जाता है (न) [ऐसा] नहीं [अन्य अन्वय] (वा) या (भूत्वा) होकर (भूयः) फिर से (न भविता) नहीं रहता (न) [ऐसा] नहीं। (अयं) यह [आत्मा] (अजः) अजन्मा (नित्यः) नित्य (शाश्वतः) शाश्वत (पुराणः) पुरातन (शरीरे हन्यमाने) शरीर के हत होने पर (न) नहीं (हन्यते) हत होता।

"यह आत्मा न कभी जन्मता है और न मरता ही है। ऐसा नहीं कि यह नहीं होकर फिर से हो जाता है (अथवा यह भी

नहीं कि यह होकर फिर से अभाव-रूप हो जाता है)। यह आत्मा तो अजन्मा, नित्य, शाश्वत और पुरातन है। वह शरीर के नष्ट होने पर नाश को नहीं प्राप्त होता।"

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम्॥ २/२१॥

(पार्थ) हे पार्थ (यः) जो (एनम्) इस [आत्मा] को (अविनाशिनं) अविनाशी (नित्यम्) नित्य (अजम्) अजन्मा (अव्ययं) अव्यय (वेद) जानता है (सः) वह (पुरुषः) पुरुष (कथं) कैसे (कं) किसे (हन्ति) मारता है (कं) किसे (घातयति) मरवाता है।

"हे अर्जुन! जो इस आत्मा को अविनाशी, नित्य, अजन्मा और अव्यय जानता है, वह पुरुष भला किसी को कैसे मार सकता है अथवा मरवा सकता है?"

पिछले प्रवचन में हमने देखा, भगवान् श्रीकृष्ण हमें साहस का पाठ पढ़ाते हुए कहते हैं कि देह तो अनित्य ही है, पर देही नित्य और अविनाशी है। अतः ऐसी विनाशी देह के लिए शोक क्यों करना? अब १९ वें श्लोक में वे अर्जुन के मन में छिपे पाप के भय को दूर करने का प्रयास करते हैं। ठीक है, हम नित्य और अविनाशी आत्मा के आधार पर खड़े होकर कापुरुषता और दुर्बलता को जीत लेते हैं, अपने भीतर साहस को जगाते हैं, पर हत्या करने का पाप तो लगा ही रहेगा न? हम कह चुके हैं कि अर्जुन दो प्रकार के भय से ग्रस्त था। एक था हार का भय और दूसरा था पाप का भय। हार का भय कायरता और साहस के अभाव से उत्पन्न

हुआ था। पहले के श्लोकों में अर्जुन के इसी भय को दूर करने की चेष्टा की गयी है। अनित्य का भय नित्य से ही दूर हो सकता है। विनाशी का भय अविनाशी ही दूर कर सकता है। देह पर खड़ा साहस देही पर खड़े साहस की तुलना में नगण्य है। इसीलिए श्रीभगवान् नित्य और अविनाशी देही का पाठ पढ़ाते हैं।

अब अर्जुन का पाप-भय कैसे हटे ? अर्जुन सोचता है कि गुरुजनों को मारकर पाप ही तो हाथ लगनेवाला है, आत्मीय-स्वजनों की हत्या से बढ़कर और कोई पातक नहीं है। श्रीकृष्ण अब इसी पाप-भावना को दूर करने की औषधि प्रदान करते हैं। पाप का कारण अज्ञान ही हुआ करता है। जहाँ मैं-पन का बोध है, कर्तापन है, वहीं भोक्तापन भी आ जाता है। यदि कर्तृत्व का अहंकार न हो, तो इसका तात्पर्य यह हुआ कि क्रिया के साथ मेरापन नहीं जुड़ा है। इसका परिणाम यह होता है कि उस कार्य से उत्पन्न होनेवाले फल के प्रति भी मेरापन तब नहीं होता। क्रिया के साथ ममत्व-भाव कर्तापन को जन्म देता है और फल के साथ ममत्व भोक्तापन का कारण होता है। यदि क्रिया से मैं-पन हट गया, तो कर्ता से फल चिपक नहीं पाता, और तब क्रिया का गुण या दोष उसे स्पर्श नहीं कर पाता। यह अकर्तापन की साधना दो प्रकार से सधा करती है। पहला तो ज्ञान का रास्ता है, जिसमें साधक को यह धारणा दृढ़ करनी पड़ती है कि वह देह-मन से भिन्न आत्मा है तथा

आत्मा अपरिच्छिन्न और सर्वव्यापी होने के कारण क्रिया आदि विक्रियाओं से हीन है। दूसरा रास्ता भक्ति का, शरणागति का है, जिसमें भक्त अपने अहंकार को भगवान् में विलीन करने का प्रयास करता है और इस प्रकार अपने कर्तापन को उन्हें सौंप देता है। पहले रास्ते को, ज्ञान के पथ को 'महान् अहं' की साधना भी कह सकते हैं और दूसरे यानी भक्ति के पथ को 'महान् त्वं' की। 'महान् अहं' में साधक अपने अहं का विस्तार करता है––इतना कि आब्रह्मस्तम्बपर्यन्त सारा विश्व-ब्रह्माण्ड उसके अहं के अन्तर्गत आ जाता है। वह 'अहं ब्रह्मास्मि', 'सोऽहम्', 'अयमात्मा ब्रह्म' आदि वाक्यों से ध्वनित सत्य की प्रतीति करने लगता है। वह अनुभव करता है कि वही सारे जगत् में व्याप्त है तथा कह उठता है––'जो कुछ है सो मैं ही हूँ'। दूसरी ओर, 'महान् त्वं' का साधक अपने अहं को तुच्छ और नगण्य बनाता हुआ भगवान् के अहं में निमज्जित करने का प्रयास करता है। वह कहता है––'नाहं नाहं, त्वमेव त्वमेव'––'मैं नहीं, मैं नहीं; तू ही, तू ही'। उसके लिए भगवान् ही सबके अहं में व्याप्त हैं तथा वह कह उठता है––'जो कुछ है सो तू ही है'।

श्रीरामकृष्ण देव कहते थे कि ये दोनों प्रकार के साधक माया के पाश में नहीं बँधते। माया अपनी डोर लेकर 'महान् अहं' के साधक को बाँधने आती है। वह अपने अहं का इतना विस्तार करता है कि अन्ततोगत्वा

माया की डोर छोटी पड़ जाती है और उसे लपेटने में असमर्थ रहती है। माया 'महान् त्वं' के साधक के पास भी जाती है और उसके चारों ओर अपनी डोर लपेटकर उसे गाँठ में कसती है। पर यह साधक अपने अहं को इतना छोटा कर लेता है कि वह अन्त में उस गाँठ से फिसलकर निकल आता है।

यहाँ उपर्युक्त तीन श्लोकों में भगवान् कृष्ण अर्जुन को ज्ञान का पाठ पढ़ा रहे हैं। वे कहते हैं कि जो आत्मा को मारनेवाला समझता है या जो उसे मारा गया मानता है, वे दोनों यथार्थ सत्य को नहीं जानते; क्योंकि आत्मा न तो मारता है, न मारा जाता है। मारने की क्रिया द्वैत के राज्य में होती है। वह मारनेवाले को उससे सम्बद्ध करती है, जिसे मारा जा रहा है। पर आत्मा में द्वैत है नहीं। अतः आत्मा में हनन की कोई क्रिया नहीं बन सकती।

२०वें श्लोक में कहते हैं कि आत्मा न जन्म लेता है, न मरता है। जो हनन करता है, वह अवश्य जन्म धारण करता है। जो जन्म ही न ले, वह मारेगा कैसे? जन्म लेकर वस्तु पहले अस्तित्ववान् होती है, तब उसमें क्रिया की हलचल होती है। उसी प्रकार, जिसे मारा गया, उसकी तो मृत्यु हो गयी। अब आत्मा यदि न तो जन्मता हो, न मरता हो, तो स्वाभाविक ही वह मारने-वाला अथवा मारा गया कैसे हो सकता है? यदि कहो कि आत्मा पहले नहीं था, बाद में वह हुआ और मारनेवाला

बना तो इस श्लोक में कहा गया कि 'अयं न भूत्वा भूयः भविता (इति) न'—ऐसा नहीं कि आत्मा नहीं होकर फिर से हो जाता है। अथवा, यदि ऐसा कहो कि आत्मा पहले तो था, पर मारा जाकर विनष्ट हो गया, तो इसका भी प्रतिवाद उक्त श्लोक में किया गया है—'अयं भूत्वा भूयः न भविता (इति) न'—ऐसा नहीं कि वह होकर फिर से अभाव-रूप हो गया। यानी, सब प्रकार से यही बताया गया आत्मा में हनन आदि की क्रिया नहीं होती, शरीर के नाश से उसका नाश नहीं होता।

कहीं कहीं इस श्लोक के पूर्वार्ध में पाठभेद देखा गया है। वहाँ 'नायं भूत्वाऽभविता वा न भूयः' ऐसा पाठ आता है। इससे श्लोक के अर्थ में कोई परिवर्तन नहीं होता। ऊपर जो विभिन्न अर्थ दिये गये हैं, इस पाठभेद का अर्थ भी उन्हीं के अन्तर्भुक्त हो जाता है।

पिछली चर्चा में हमने देखा था कि प्रत्येक वस्तु 'जायते', 'अस्ति', 'वर्धते', 'विपरिणमते' 'अपक्षीयते' और 'विनश्यति' इन षड्विकारों से ग्रस्त होती है। जहाँ पर जन्म और मृत्यु इन दो विकारों का प्रतिषेध किया गया हो, वहाँ, प्रारम्भ और अन्त के विकार प्रतिषिद्ध हो जाने के कारण, बीच के अन्य चारों विकारों का भी स्वाभाविक रूप से प्रतिषेध हो जाता है। इस श्लोक की प्रथम पंक्ति में 'न जायते म्रियते' कहकर आत्मा को जन्म और मृत्यु इन दोनों विकारों से रहित बताया। तो स्वाभाविक ही आत्मा में अन्य चारों विकार भी प्रतिषिद्ध हो

गये। तथापि विशिष्ट रूप से जोर देकर अन्य विकारों का प्रतिषेध करने के लिए आत्मा के लिए 'अजः', 'नित्यः', 'शाश्वतः' और 'पुराणः' ये विशेषण लगा दिये गये। आत्मा को 'अज' और 'नित्य' कहकर उसके अजन्मा और अमरणधर्मा होने के भाव को ही पुनः पुष्ट किया। 'शाश्वत' कहकर यह बताया कि आत्मा में किसी प्रकार का अपक्षय नहीं है। शश्वद्भवः शाश्वतः—जो सदा रहे उसका नाम शाश्वत है। यह सम्भव हो सकता है कि जो अजन्मा है और मृत्यु से रहित है, उसमें क्षरण होता रहे, उसके रूप में परिवर्तन होता रहे; इसलिए उसे 'शाश्वत' कहकर यह निरूपित किया कि उसमें किसी प्रकार की परिवर्तन की क्रिया नहीं होती। किसी वस्तु में क्षय दो कारणों से होता है। एक तो स्वरूप से और दूसरा, गुणों से। यदि स्वरूप खण्डित हुआ, तो आकार की क्षीणता से क्षय की क्रिया हुई। यदि गुण खण्डित हुआ, तो वस्तुधर्म की क्षीणता से क्षय साधित हुआ। आग में यदि उष्णता के गुण का अभाव हो जाय, तो आग के स्वरूप में परिवर्तन हो जायगा। यदि आग में से ईंधन को निकाल लिया जाय, तो उसका आकार छोटा पड़ जायगा। जो वस्तु अवयव-वान् है, उसका अवयव खण्डित होने पर उसमें स्वरूप से परिवर्तन घटित होता है। आत्मा तो निरवयव है, इसलिए उसके अवयव के कटने का प्रसंग ही उपस्थित नहीं होता, और इसीलिए उसके स्वरूप में परिवर्तन की बात भी

ठहरती नहीं। आत्मा निर्गुण है, इसलिए उसके गुणों के क्षय का प्रश्न भी नहीं उठता। इस प्रकार 'शाश्वत' शब्द से यह सूचित किया कि आत्मा में, अवयव या गुणों का अभाव होने के कारण, किसी प्रकार की क्षीणता उपस्थित नहीं होती।

आत्मा को 'पुराण' कहकर उसमें वृद्धिरूप विकार का प्रतिषेध किया गया। शंकराचार्य अपने भाष्य में कहते हैं--'यो हि अवयवागमेन उपचीयते स वर्धते अभिनव इति च उच्यते। अयं तु आत्मा निरवयवत्वात् पुरा अपि नव एव इति पुराणो न वर्धते इत्यर्थः'--जो पदार्थ किसी अवयव के उत्पन्न होने से पुष्ट होता है, वह 'बढ़ता है' 'नया हुआ है' ऐसा कहा जाता है, परन्तु यह आत्मा तो अवयवरहित होने के कारण पहले भी नया था, अतः 'पुराण' है अर्थात् बढ़ता नहीं। 'पुराण' शब्द का अर्थ होता है 'पूर्व काल से होता हुआ भी चिर नूतन'--पुरा+णवः=पुरानवः=पुराणः। यह अत्यन्त पुराना होता हुआ भी सदैव अत्यन्त नवीन जैसा ही विद्यमान है।

'शाश्वत' और 'पुराण' इन दो विशेषणों में सूक्ष्म अन्तर है। दोनों आत्मा की एकरसता ही सूचित करते हैं, पर 'शाश्वत' शब्द क्षीणता से होनेवाले स्वरूप-नाश का निषेध करता है, जबकि 'पुराण' शब्द वृद्धि से होने वाले स्वरूप-परिवर्तन का दूसरे शब्दों में कहें, 'शाश्वत' शब्द यह ध्वनित करता है कि आत्मा कभी घटता नहीं,

और 'पुराण' शब्द इस आशय को व्यक्त करता है कि आत्मा कभी बढ़ता नहीं।

अब, जो न घटे, न बढ़े; जो न जन्म ले, न मरे ऐसा आत्मा तो सर्वव्यापी और विभु ही होगा। क्रिया उसमें होती है, जो सीमित है, जिसमें संकोच या विकास की गुंजाइश है। आत्मा के सर्वव्यापी होने के कारण उसमें किसी भी प्रकार की क्रिया का प्रश्न ही नहीं उठता। तो अब प्रश्न यह उठता है कि मारने और मारे जाने की क्रिया फिर किसमें होती है? श्रीभगवान् उत्तर देते हैं--शरीर में। 'न हन्यते हन्यमाने शरीरे'--शरीर के मारे जाने पर भी आत्मा नहीं मारा जाता। इससे यह बताया गया कि नाश शरीर का होता है, आत्मा का नहीं। इससे एक और प्रश्न उठा--ठीक है, मारा जानेवाला तो शरीर हो गया, पर जो मारता है वह कौन है? आत्मा में किसी प्रकार की क्रिया न होने के कारण वह तो मारता नहीं और शरीर जड़ होने के कारण मार सकता नहीं; तो फिर मारनेवाला कौन है? दूसरा प्रश्न उठा--यदि शास्त्र मरने-मारने का निषेध करते हैं, तो पाप-पुण्य की बात फिर क्यों करते हैं, क्यों कहते हैं कि हिंसा से पाप होता है और अहिंसा से पुण्य? तीसरा प्रश्न उठा--यदि आत्मा विभु होने के कारण क्रियारहित है और शरीर जड़ है, तो यह पाप-पुण्य किसे लगता है? जब शरीर नाशवान् है ही, तो उसे नष्ट करने में कैसा पाप? इन तीनों प्रश्नों का

उत्तर हम एक साथ ही देने का प्रयास करेंगे, क्योंकि ये सभी एक-दूसरे से सम्बन्धित हैं।

हमने ऊपर देखा कि जो मारा जाता है, वह शरीर है। जो मारता है, वह है अहंकार। अहंकार अन्तःकरण की एक वृत्ति है और अन्तःकरण सूक्ष्म शरीर का उपादान है। यह बाहर का दीखनेवाला शरीर 'स्थूल शरीर' कहलाता है। नाश इसी का होता है। इसके भीतर एक 'सूक्ष्म शरीर' है, जो अन्तःकरण की वृत्तियों और सूक्ष्म तन्मात्राओं से बना है। जैसे स्थूल शरीर जड़ है, उसी प्रकार सूक्ष्म शरीर भी जड़ है, पर सूक्ष्म शरीर की जड़ता सूक्ष्मतर है। आत्मा सर्वव्यापी और विभु होने के कारण शरीर में ओत-प्रोत रूप से विद्यमान है। शरीर के मरने के बाद जो आवागमन की क्रिया होती है, वह आत्मा में नहीं बल्कि सूक्ष्म शरीर में होती है। जैसे एक घड़े को उठाकर हम दूसरे स्थान में ले जायँ, तो इससे उस घड़े के भीतर का आकाश नहीं चलता, पर घड़े के चलने के कारण उस घटाकाश पर भी चलने का व्यवहार हो जाता है, उसी प्रकार स्थूल शरीर के नाश के बाद सूक्ष्म शरीर दूसरी देह में आना-जाना करता है, आत्मा नहीं। पर चूँकि आत्मा उसमें व्यापक रूप से स्थित है, इसलिए उस पर भी सूक्ष्म शरीर क्रिया का व्यवहार कर दिया जाता है। वस्तुतः आत्मा में किसी प्रकार की क्रिया नहीं होती। सूक्ष्म शरीर की आत्मा के चैतन्य-धर्म को प्रतिबिम्बित करता है और इसलिए

वह आत्मा के समान ही चेतन मालूम पड़ता है। जब हम आत्मा को सूक्ष्म शरीर की उपाधि से युक्त करते हैं, तो उसे 'जीवात्मा' कहकर पुकारते हैं। वास्तव में कर्तापन और भोक्तापन सूक्ष्म शरीर में होता है और चूँकि अज्ञान-दशा में यह सूक्ष्म शरीर आत्मा से सम्बद्ध मान लिया जाता है, इसलिए जीवात्मा ही कर्ता और भोक्ता उपाधियों से युक्त होता है। पाप-पुण्य इसी जीवात्मा को लगते हैं, यानी सूक्ष्म शरीर, जो अज्ञान से आत्मा से युक्त माना जाता है, पाप-पुण्य और सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों का भोक्ता तथा हननादि क्रियाओं का कर्ता माना जाता है। स्व और पर का भेद भी यह सूक्ष्म शरीर ही उत्पन्न करता है। इसका अपने स्थूल शरीर के प्रति मेरापन, ममत्व होता है और दूसरे स्थूल शरीरों के प्रति तेरापन, परत्व। इसलिए वह अपने स्थूल शरीर को सब प्रकार से सुखी बनाये रखने की चेष्टा करता है। एक स्थूल शरीर के नष्ट होने पर यह सूक्ष्म शरीर अपने भोग के लिए, अपने संस्कारों के अनुसार, एक नये स्थूल शरीर की रचना करता है। इस प्रक्रिया का विशद विवेचन हम अपने अगले प्रवचन में करेंगे।

आइए, अब थोड़ा इस पर विचार करें कि मृत्यु क्या है? हमने देखा कि आत्मा सर्वव्यापी और विभु है। प्राणवत्ता और चैतन्य आत्मा का धर्म है। जैसे अग्नि का धर्म है ताप, वैसे ही आत्मा का धर्म है चैतन्य, प्राणवत्ता। पर आत्मा का यह धर्म अन्तःकरण के द्वारा

ही प्रकट होता है। जैसे, विद्युत् का एक धर्म है प्रकाश, पर यह धर्म तभी प्रकट होता है, जब उसे 'बल्ब' आदि का माध्यम प्राप्त होता है, वैसे ही आत्मा का चैतन्य-धर्म अन्तःकरण के माध्यम से प्रकट होता है। और ऊपर हम कह चुके हैं कि अन्तःकरण ही स्थूल शरीर की रचना करता है। जहाँ भी और जिसमें भी अन्तःकरण होगा, या अत्यन्त सरल शब्दों में कहें, मन होगा, वहीं यह चैतन्य प्रकट होगा, प्राणवत्ता प्रकट होगी। अन्तःकरण को सहज-सामान्य रूप से समझने के लिए 'मन' शब्द का उपयोग किया जा सकता है। तात्पर्य यह हुआ कि मन ही आत्मा के चैतन्य को प्रतिबिम्बित करता है और इसलिए आत्मा के ही समान चेतन मालूम पड़ता है। हम कह चुके हैं कि मन (यानी अन्तःकरण) ही कर्ता और भोक्ता है, और हम अज्ञान से इसका आरोपण आत्मा पर कर देते हैं। जहाँ भी और जिसमें भी मन की क्रिया होती है, वहाँ और उसमें आत्मा के चैतन्य का प्रतिबिम्ब पड़ने के कारण हम उसे 'जीवित' या 'प्राणयुक्त' या 'चेतन' कहकर पुकारते हैं, और जहाँ मन की क्रिया नहीं है, उसमें आत्मा का चैतन्य भी प्रकट नहीं होता, इसलिए उसे हम 'निर्जीव' या 'प्राणहीन' या 'जड़' कहकर सम्बोधित करते हैं। हम मिट्टी के ढेले या पत्थर के टुकड़े को 'निर्जीव' या 'जड़' कहते हैं, क्यों? इसलिए कि उसमें मन की क्रिया को प्रकट करने का साधन नहीं। अतएव उसमें चैतन्य

आवृत है या ढका हुआ है। पाषाण में मन का स्पन्दन नहीं होता, अन्तःकरण की स्फुरणा नहीं होती, इसलिए उसमें आत्मचैतन्य का प्रतिबिम्ब भी नहीं पड़ता और इसीलिए उसमें चेतनता नहीं प्रकट हो पाती। वनस्पति में यह मन या अन्तःकरण कुछ मात्रा में प्रकट है, अतः वहाँ प्राण की क्रिया दिखायी देती है। प्राणियों में यह मन अधिक स्पन्दनशील है और मनुष्य में आकर तो इस मनोयंत्र का परिपूर्ण विकास ही साधित होता है। यह अन्तःकरण मानव में इतना विकसित हो जाता है कि एक दिन वह आत्मा की परिपूर्ण चैतन्य-ज्योति को प्रतिबिम्बित कर देता है। जैसे, एक मैला दर्पण। जैसे जैसे हम इस दर्पण को साफ करते हैं, वैसे वैसे वह अधिकाधिक रूप से ज्योति को प्रतिबिम्बित करता जाता है। पूरा साफ होने पर वह ज्योति को उसकी अपनी समूची तीव्रता के साथ प्रतिबिम्बित कर देता है। ठीक यही बात मन पर, अन्तःकरण पर लागू होती है।

अब हम मृत्यु की प्रक्रिया को समझ गये होंगे। यह शरीर तब तक जीवित रहता है, जब तक उसके भीतर यह मन, यह अन्तःकरण, यह सूक्ष्म शरीर प्रकट है; क्योंकि उसी के माध्यम से शरीर में आत्मचैतन्य का प्रतिफलन होता है। जब मन (यानी सूक्ष्म शरीर) इस स्थूल शरीर से अपनी क्रिया समेट लेता है और अन्यत्र प्रयाण करता है, तो इसके अभाव में आत्मचैतन्य का प्रतिबिम्बित होना बन्द हो जाता है, यानी आत्मा का चैतन्य-

धर्म अपने को प्रकट करनेवाले यंत्र के अभाव में पुनः प्रच्छन्न या आवृत हो जाता है। जैसे बल्ब के फूटने पर, विद्युत् के रहते हुए भी उसका प्रकाश-धर्म प्रच्छन्न हो जाता है, वैसे ही। ऐसी दशा में यह शरीर 'निर्जीव' या 'प्राणहीन' या 'जड़' कहकर घोषित होता है, और यही मृत्यु की अवस्था है। ऐसी बात नहीं कि मृत शरीर में से आत्मा चला जाता हो। आत्मा तो सर्व-व्यापी है, विभु है; वह भला कहाँ जायगा? हाँ, उसके चैतन्य को प्रतिबिम्बित करनेवाला 'अन्तःकरण' नामक यंत्र अवश्य चला जाता है। इसीलिए कह देते हैं कि 'जीवात्मा' शरीर को छोड़कर चला गया। 'जीवात्मा' और 'आत्मा' इन दो शब्दों का अर्थ-भेद हम ऊपर स्पष्ट कर ही चुके हैं।

यहाँ पर एक प्रश्न और उठ सकता है कि सूक्ष्म शरीर के अन्यत्र जाने का कारण क्या है? इसका सीधा उत्तर यही है कि जब स्थूल शरीररूपी यंत्र किसी कारण से खराब हो जाता है, इतना खराब कि वह सूक्ष्म शरीर के भोग के लायक नहीं रह जाता, तो सूक्ष्म शरीर उसे छोड़कर नये स्थूल शरीर की रचना कर लेता है। या तो स्थूल शरीर को कोई मारकर नष्ट कर दे, या दुर्घटना में वह नष्ट हो जाय, या फिर वह अपने आप ही किसी प्रमुख अंग के नष्ट होने से नाश को प्राप्त हो जाय। ये तीन प्रमुख रास्ते हैं, जिनसे मृत्यु आती है। जैसे एक 'कार'। कोई उसे पत्थरों से मारकर या

जलाकर नष्ट कर दे, या वह दुर्घटनाग्रस्त हो जाय और नष्ट हो जाय, या फिर उसका कोई प्रमुख पुर्जा नष्ट हो जाय और वह चलना बन्द कर दे। यदि कहो कि कार का पुर्जा नष्ट होने से उसे बदलकर पुनः चलाया जा सकता है, ऐसे ही क्या मानव-शरीररूपी गाड़ी को नहीं चलाया जा सकता ? तो इसका उत्तर यह है कि यदि समय पर, यानी अन्तःकरण की क्रियाओं के सिमटने के पूर्व, शल्य-क्रिया आदि के द्वारा शरीर का खराब पुर्जा बदलकर नया लगा दिया गया, तो पुनः कुछ दिन शरीररूपी गाड़ी चल जाती है। यहाँ तात्पर्य इतना ही है कि शरीर-यंत्र जब मनोयंत्र के उपभोग के लायक नहीं रह जाता, तब वह शरीर को छोड़कर चला जाता है।

तो, उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हुआ कि कर्ता-पन मन का यानी अन्तःकरण का यानी सूक्ष्म शरीर का धर्म है। अतएव हनन आदि क्रियाओं का कर्तापन उसी पर लागू होता है। इस मन का अपने शरीर के प्रति मेरापन होता है, अतएव जब उसका विच्छेद अपने शरीर से होता है, तो स्वाभाविक ही दुःख की विक्रिया उसमें होती है। जिस शरीर के साथ इतने वर्षों का सम्बन्ध रहा, जो शरीर बरसों तक मन के भोग का साधन बना रहा, उससे ममत्व हो जाना स्वाभाविक है और यह भी स्वाभाविक है कि उसके वियोग से मन को दुःख हो। तो, यदि मैं किसी के शरीर को नष्ट करूँ, तो अवश्य उस शरीर के अभिमानी मन को दुःख देता हूँ। दूसरे

शरीर के अभिमानी मन को दुःख देना ही पाप कहलाता है और उसे सुख देना पुण्य। व्यवहार-दशा में जब तक शरीर-बोध बना हुआ है, तब तक हिंसा पाप का कारण होगी और अहिंसा पुण्य का। इसीलिए शास्त्र ऐसी हिंसा का निषेध करते हैं। भले ही शरीर अपने काल से आप नष्ट होता हो, पर इसी कारण उसे शीघ्र मार डालना कोई उचित बात नहीं है। जो व्यक्ति अपने को देहाभिमानी जीव मानकर हत्या, पीड़न आदि के दुष्कर्म करता है, वह दूसरे को दुःख देने के फलस्वरूप पाप या दोष का भागी होता है।

इस विवेचन से ऊपर के तीनों प्रश्नों का समाधान हो जाता है। १९वें और २०वें श्लोक में भगवान् कृष्ण अर्जन को आत्मज्ञान का उपदेश दे रहे हैं। वे उसे देहाभिमान से मुक्त कर आत्मस्वरूप में प्रतिष्ठित करना चाहते हैं। वे अर्जुन से कहते हैं कि देहाभिमानी जीव ही क्रिया के साथ मेरापन जोड़कर कर्ता और भोक्ता बनता है। अर्जुन! तू आत्मा पर खड़ा हो। आत्मा में मरने-मारने की कोई क्रिया नहीं। अतएव पाप से डरने की कोई बात नहीं। तू इस आत्मज्ञान के द्वारा पाप-भय को जीत ले।

एक दूसरी दृष्टि से देखें, तो 'काल' ही मरने-मारने का कारण होता है, आत्मा नहीं। महाभारत में शान्ति-पर्व के अन्तर्गत २५वें अध्याय में 'काल' के सम्बन्ध में विस्तार से विवेचना की गयी है। कुछ श्लोक ये हैं——

नाकालतो म्रियते जायते वा
नाकालतो व्याहरते च बालः ।।११।।

कालेन परिपक्वा हि म्रियन्ते सर्वपार्थिवाः ॥१४॥
घ्नन्ति चान्यान्नरान्राजंस्तानप्यन्ये तथा नराः ।
संज्ञैषा लौकिकी राजन्न हिनस्ति न हन्यते ॥१५॥
आत्माऽपि चायं न मम सर्वाऽपि पृथिवी मम ।
यथा मम तथान्येषामिति पश्यन्न मुह्यति ॥१६॥

—'काल के बिना कोई न तो जन्म लेता है, न मरता है। काल से ही बालक बोलने लगते हैं। काल से परिपक्व हुए राजागण मरते हैं। हे राजन्! ऐसी बात कि कुछ लोग दूसरों को मारते हैं और उन लोगों को अन्य लोग मारते हैं, अज्ञानी जन ही करते हैं। वास्तव में आत्मा न मरता है, न मारा जाता है। जिस प्रकार यह पृथ्वी मेरी है और साथ ही अन्य सब प्राणियों की भी है, उसी प्रकार यह आत्मा मेरा है और साथ ही सब प्राणियों का भी, ऐसा जो समझ लेता है, वह मोह को नहीं प्राप्त होता।'

गीता में भी कहा गया है कि 'काल' ही सबका नाशक है। ग्यारहवें अध्याय में श्रीभगवान् कहते हैं—

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो
लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः ।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे
येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योद्धाः ॥३२॥

—'मैं लोकों का नाशक महाकाल हूँ। लोकों का नाश करने के लिए यहाँ आया हूँ। हे अर्जुन! जो शत्रुपक्ष की सेना के योद्धागण हैं, वे सब तेरे बिना भी नहीं रहेंगे, अर्थात् तेरे युद्ध न करने से भी इन सबका नाश हो जायगा।'

इस प्रकार से अर्जुन को समझाने का तात्पर्य यही है कि अर्जुन अज्ञान का त्याग करे, देहाभिमान से ऊपर उठे, अपने मन का योग शरीर से करने के बदले आत्मा से करे; दूसरे शब्दों में, वह आत्मा-अभिमानी हो, श्रीभगवान् को अपने मन का स्वामी समझे और अपने को उनका मात्र एक यंत्र, एक निमित्त।

आत्मज्ञान का ठीक यही उपदेश हमें कठोपनिषद् भी प्रदान करता है। उसके प्रथम अध्याय की दूसरी वल्ली के १८वें और १९वें मंत्र गीता के इन विवेच्य १९वें और २०वें श्लोकों की प्रतिध्वनि मालूम पड़ते हैं। वहाँ पर आया है——

न जायते म्रियते वा विपश्चिन्-
नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥१८॥
हन्ता चेन्मन्यते हन्तुं हतश्चेन्मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥१९॥

——'यह मेधावी——ज्ञानस्वरूप आत्मा न उत्पन्न होता है, न मरता है; यह न तो स्वयं किसी अन्य कारण से उत्पन्न हुआ है, न ही उसी से कुछ उत्पन्न हुआ है। यह अजन्मा, नित्य, शाश्वत और पुरातन है तथा शरीर के मारे जाने पर भी नहीं मरता। यदि मारनेवाला आत्मा को मारने का विचार करता है और मारा जानेवाला उसे मारा गया समझता है, तो वे दोनों ही उसे नहीं जानते; क्योंकि

यह न तो मारता है और न मारा जाता है।'

परम्परा के अनुसार श्रुति का पाठ अधिकारी व्यक्तियों के लिए ही विधेय माना गया है, जबकि स्मृति का पाठ उपनयन-संस्कार से हीन लोग भी कर सकते हैं। उपनिषद् श्रुति के अन्तर्गत आते हैं और गीता स्मृति के। गीता में उपनिषद् के इन मंत्रों का शब्दों के बहुत थोड़े उलट-फेर से उद्धृत होना यह ध्वनित करता है कि गीताकार ज्ञान को आबाल-वृद्ध-वनिता, ब्राह्मण-चाण्डाल सबके पास तक पहुँचा देना चाहते हैं। परम्परागत मान्यता एकदम से खण्डित न हो, इसलिए वे श्लोकों के क्रम को बदल देते हैं और दो-एक शब्दों में परिवर्तन कर देते हैं। यहाँ भी यही प्रदर्शित किया गया है कि आत्मा में न तो कोई क्रिया है, न कोई विकार।

इसीलिए २१वें श्लोक में श्रीभगवान् कहते हैं--हे अर्जुन! जिस पुरुष ने आत्मा के स्वरूप को इस प्रकार जान लिया; जिसने समझ लिया कि आत्मा अविनाशी, नित्य, अज और अव्यय है, वह भला किसी को कैसे मार सकता है, या कैसे किसी को मारने का कारण बन सकता है? तू भी इस आत्मा को जान ले, मन और देह की गाँठ को खोल मन को आत्मा से जोड़ ले, तो तेरा यह पाप-भय ज्ञान की अग्नि में दग्ध होकर राख हो जायगा।

धर्मप्रसंग में स्वामी ब्रह्मानन्द

अनु० – स्वामी व्योमानन्द

(श्रीमत् स्वामी ब्रह्मानन्दजी महाराज रामकृष्ण मठ एवं मिशन के प्रथम अध्यक्ष थे। विभिन्न अवसरों पर दिये गये उनके कुछ आध्यात्मिक उपदेश कतिपय संन्यासियों एवं भक्तों द्वारा लिपिवद्ध कर लिये गये थे। उन्हीं उपदेशों का कुछ अंश मूल बँगला ग्रन्थ के रूप में 'उद्बोधन कार्यालय' द्वारा प्रकाशित किया गया। उसी का धारावाहिक अनुवाद यहाँ पर 'उद्बोधन कार्यालय' के सौजन्य से प्रकाशित किया जा रहा है। --सं०)

स्थान–बेलुड़ मठ

१९ मई, १९१३

प्रश्न--आपनें उस दिन कहा था कि छटपटाने से कुछ नहीं होता, समय न होने से किसी भी हालत में नहीं होगा। तो क्या भगवान्-लाभ के लिए व्याकुलता छोड़ देनी होगी ?

उत्तर--हो सकता है, वह बात मैंने किसी अन्य प्रसंग में कही होगी। छटपटाने का मतलब है, एक-दो दिन emotion (भावुकता) के वश हो छटपट करना, रोना, भीतर के भाव को प्रकट करना। किन्तु दो दिन बाद ही उसका लोप हो जाता है और साधक निराशा एवं अवसाद के कारण वह सब बिलकुल ही छोड़ देता है।

भीतर का भाव प्रकट करना बहुत खराब है। उससे अनुराग की intensity (तीव्रता) कम हो जाती है। श्रीरूप गोस्वामी के शिष्य राधावल्लभ गोस्वामी एक दिन पूजा करते करते भावावेश में अधीर होकर नृत्य

करने लगे; तब श्रीरूप गोस्वामी ने उनको यह कहते हुए त्याग दिया, "तुमने अपने स्वार्थ के लिए प्रभु की सेवा में त्रुटि की।" श्रीराधा ने श्रीरूप गोस्वामी को स्वप्न में दर्शन देकर शिष्य को फिर से ग्रहण करने के लिए कहा। इस पर श्रीरूप गोस्वामी ने उत्तर दिया था, 'तुम गोप-लड़की हो, तुम इसे क्या समझोगी? श्रीगुरु की कृपा से मैं जानता हूँ कि शिष्य पर किस तरह शासन करना चाहिए।' श्रीराधा की बात भी वे न माने। इस तरह चैतन्यदेव की दोहाई देकर आनन्द से उन्मत्त होने से नहीं चलेगा। अन्त अन्त के बारह वर्ष वे पूर्ण उन्मत्त हो गये थे। उनके आनन्द या विरह-यंत्रणा का कणमात्र भी जीव सह नहीं सकता।...

प्रश्न--ठाकुर ने कहा है, एक बार यहाँ, एक बार वहाँ कुआँ खोदने से कहीं भी जल नहीं मिलता, एक ही जगह लगे रहना चाहिए। साधन-पथ में भी क्या वैसा ही नियम है?

उत्तर--हाँ, ठीक उसी प्रकार लगे रहना होगा। ठीक ठीक अनुराग के वश हो यदि कोई भगवान्-लाभ के लिए परिश्रम करे और उससे यदि भगवान्-लाभ न भी हो, तो भी वह उन्हें भूलकर नहीं रह सकता; कोटि जन्मों तक उन्हें न पाने पर भी अचल-अटल भाव से उन्हें पुकारते रहता है। बात क्या है जानते हो?--मनुष्य ठीक ढंग से भगवान् को नहीं पुकार पाता, क्योंकि उसके भीतर लेन-देन का भाव भरा है; इसीलिए थोड़ा

पुकारने के बाद वह यदि उन्हें न पाये, तो हताश हो जाता है।

स्थान—बेलुड़ मठ

२८ मई, १९१३

प्रश्न—महाराज! बहुतों का विश्वास है कि ठाकुर को देख लेने से और कोई चिन्ता नहीं है। रामबाबू† का भी यही मत था।

उत्तर—उनकी बात अलग है, उनका वैसा विश्वास भी था। अन्त तक उनमें वही भाव बना रहा और उसके बल पर उन्होंने सब कुछ त्याग दिया। दूसरे लोग बस मुँह से ही कहते हैं, उनमें ठीक ठीक विश्वास नहीं रहता।

प्रश्न—महाराज! बहुतों का विश्वास है कि हमने श्रीमाँ‡ को देखा है, साधु-सेवा की है, हम लोगों को फिर क्या चिन्ता?

उत्तर—श्रीमाँ को देखने और साधु-सेवा करने से ही नहीं हो जाता। ध्यान-धारणा, विवेक-वैराग्य चाहिए।

× × × ×

रामलाल दादा (ठाकुर के भतीजे) आज मठ में आये हैं, वापस जाने के समय महाराज से उन्होंने दो-एक बातें पूछीं।

रामलाल दादा—महाराज! तो फिर कामारपुकुर में जाऊँ या शिबू को भेजूँ?

---

† रामचन्द्र दत्त—ठाकुर के एक गृही शिष्य।

‡ श्रीसारदा देवी—श्रीरामकृष्णदेव की लीला-सहधर्मिणी।

उत्तर--मैं क्या जानूँ, दादा? और किसी से पूछो। इस तरह का परामर्श देना अब मुझसे नहीं होता। हम लोग साधु हैं, हम लोगों के लिए 'ब्रह्म सत्य जगत् मिथ्या' है। हमेशा से जगत् को मिथ्या सोचते सोचते अब उन सब विषयों के बारे में बहुधा परामर्श देते नहीं बनता। वे बातें अब हमारे लिए नहीं रहीं।

रामलाल दादा--महाराज! आप ही जब ऐसा कहते हैं तो फिर हम लोग कहाँ जायें?

उत्तर--मन बहुत खराब हो गया है, दादा। अब अकेला रहना ही अच्छा लगता है। लोगों से मिलना-जुलना अब अच्छा नहीं लगता। अब इच्छा होती है, वाराणसी में जाकर रहूँ। जिन लोगों से मन का मेल था, वे एक-एक करके चले जा रहे हैं। शशी (स्वामी रामकृष्णानन्द) के पास उस समय छः महीने तक था, कितने आनन्द में दिन बीते थे। ठाकुर का भाव शशी के समान और कोई नहीं ग्रहण कर सका। दक्षिण-भारत के भ्रमण में एक हजार रुपये खर्च किये। First class (प्रथम श्रेणी) में घूमना हुआ, मैंने मनाही की, पर उसके भाव को देख बहुत प्रसन्न हुआ। शशी रुपये को पानी के समान समझता था। साधु को ऐसा ही होना चाहिए। रुपये के प्रति रुपया-बोध नहीं रहना चाहिए। अब हरि महाराज (स्वामी तुरीयानन्द) के साथ रहने से आनन्द होता है। वे भी अब नहीं बचेंगे, रोग ने जकड़ लिया है। बचपन

से ही वे अखण्ड ब्रह्मचारी थे, health (स्वास्थ्य) भी अच्छा था, इसीलिए अभी तक बचे हुए हैं।

ठाकुर के पास कितने आनन्द में रहता था ! अभी ध्यान-धारणा करके भी जो नहीं होता, तब तो आप ही आप होता था। यदि मन कभी थोड़ा-बहुत खराब होता, तो वे मुँह देखकर ही जान लेते, और छाती पर हाथ फेरकर सब ठीक कर देते थे। उनके पास कितना हठ करता था ! एक दिन तेल लगवाते समय उन्होंनें कुछ कह दिया। बस त्योंही मैं गुस्से से शीशी फेंक जोर से चल दिया। किन्तु यदु मल्लिक के बगीचे के पास आते ही और आगे न बढ़ सका—वहीं बैठ गया। इधर मुझे बुलाने के लिए ठाकुर ने इन्हें (रामलाल दादा को) भेजा। वापस जाने पर उन्होंनें कहा, "देखा, जा सका ? घेरा बाँधकर जो रख दिया था !"

एक दिन मैंने एक अनुचित काम कर डाला। उसके लिए मुझे पश्चात्ताप भी हो रहा था। क्या करूँ कुछ सोच नहीं पा रहा था। आखिर उनके पास कहने गया। जाते ही उन्होंने कहा, "लोटा लेकर चल, शौच के लिए जाऊँगा।" शौच से वापस आते समय वे आप ही कहने लगे, "तूने कल अमुक अनुचित काम किया, ऐसा और कभी नहीं करना।" मैं तो सुनकर दंग रह गया ! सोचने लगा, वे कैसे जान गये !

और एक दिन कलकत्ते से वापस आने पर वे कहने लगे, "क्यों रे, तेरी तरफ क्यों नहीं देख सक रहा हूँ

--कुछ अनुचित काम तो नहीं किया है ?" हम लोगों की तब धारणा थी कि चोरी, डकैती, परस्त्रीहरण आदि ही अनुचित कर्म कहलाते हैं। मैंने कहा, "नहीं तो।" तब वे बोले, "तूने क्या कोई झूठ बात कही है ?" तब मुझे याद आया--कल हँसी-मजाक करते करते मैंने एक झूठ बात कह दी थी !

स्थान-बेलुड़ मठ

दिसम्बर १९१५

मठ में आजकल श्री महाराज (स्वामी ब्रह्मानन्दजी), बाबूराम महाराज (स्वामी प्रेमानन्दजी), महापुरुष महाराज (स्वामी शिवानन्दजी), खोका महाराज (स्वामी सुबोधानन्दजी) इत्यादि लोग हैं। कुछ दिनों से महाराज ने नियम बनाया है कि सुबह चार बजे उठकर प्रातःकृत्य समाप्त कर साढ़े चार बजे तक सभी साधु-ब्रह्मचारियों को जप-ध्यान के लिए बैठना होगा। दो घण्टे जप-ध्यान करने के बाद, लगभग एक घण्टा महाराज के कमरे में भजन-गीत होता था। साधु-ब्रह्मचारियों को समय में उठाने के लिए महाराज स्वयं चार बजे के पहले उठ जाते थे तथा चार बजने के दस मिनट पहले एक सेवक को घण्टा बजाने के लिए कहते थे। किसी किसी दिन भजन समाप्त होने के बाद साधना एवं अन्य अनेक विषयों पर उपदेश देते थे।

महाराज—इन्द्रियों के कर्ता मन का दमन करना होगा। फिर मन और बुद्धि दोनों को आत्मा में लीन

करना होगा। मन का पूर्ण नाश हुए बिना काम नहीं बनेगा। साधुसंग के कारण इन्द्रियाँ चुप बैठी हैं, अतः ऐसा न सोचना कि वे संयत हो गयी हैं। समाधि हुए बिना उनका पूरा दमन नहीं होता। थोड़ीसी छूट दो कि देखोगे, इन्द्रियाँ दुगुने जोर से बहिर्मुख हो दौड़ रही हैं। इसीलिए जब तक मन-बुद्धि के परे नहीं जाते, तब तक बड़ी सावधानी से रहने की आवश्यकता है।

भगवान् हैं, धर्म है---ये सब कोरी बातें नहीं हैं या morality (नीति) के रक्षार्थ नहीं हैं। सचमुच ही वे हैं, वे प्रत्यक्ष अनुभूति के विषय हैं। उनसे अधिक सत्य और कुछ नहीं है। Fanaticism (कट्टरता) अच्छी नहीं है। धीर, स्थिर, संयमी होना होगा।

चार बार ध्यान करना---सुबह, स्नान के बाद, सन्ध्या समय और मध्य रात्रि में। भगवान्-लाभ के लिए घर-द्वार छोड़कर आये हो, उनको पाने के लिए एकनिष्ठ होकर प्राणपण से चेष्टा करनी चाहिए। पागल कुत्ते के समान भगवान् के लिए व्याकुल हो जाना होगा। दो मुट्ठी भात-दाल खाकर मठ में मात्र पड़े रहना most miserable life (अत्यन्त हीन जीवन) है---न घर के रहोगे, न घाट के। दोनों ओर सपाट हो जायगा। इतो नष्टस्ततो भ्रष्टः हो जायगा। मन यदि उनमें न जमे, तो अभ्यास करो। रोज एक अध्याय गीता का पाठ करना जरूरी है। मैंने स्वयं देखा है, मन जब नीचे आता है, तो गीतापाठ करने से ही मन का मैल एकदम साफ

हो जाता है। दो मुट्ठी भात-दाल खाकर पड़े रहने का मतलब होगा---इतो नष्टस्ततो भ्रष्ट:।

हमेशा मन को खरोंचना होगा, अपने आप से पूछना होगा---क्या करने आया हूँ, दिन कैसे बिता रहा हूँ ? क्या सचमुच मुझे भगवान् चाहिए ? यदि चाहिए, तो मैं कर क्या रहा हूँ ? हृदय पर हाथ रखकर देखो और पूछो कि जैसा चाहिए वैसा काम कर रहा हूँ या नहीं ? मन टालमटोल करने की कोशिश करेगा। पर उसका गला पकड़कर रखना होगा, जिससे वह टालमटोल न कर सके। सत्य को पकड़ना होगा---पवित्र होना होगा। तुम जितना पवित्र होओगे, मन की एकाग्रता उतनी ही बढ़ेगी और मन की सूक्ष्म टालमटोलबाजी पकड़ में आ जायगी, और एक दिन उसकी इस दुष्प्रवृत्ति का पूरी तरह से नाश हो जायगा। "के शत्रव: सन्ति निजेन्द्रियाणि। तान्येव मित्राणि जितानि यानि।" यह मन ही स्वयं का शत्रु है एवं यह मन ही स्वयं का मित्र है। जो जितनी cross-examine (जिरह) करके मन की गल्तियाँ निकालेगा और उनको दूर करने में समर्थ होगा, वह उतनी ही द्रुतगति से साधना के क्षेत्र में अग्रसर होता जायगा।

खूब जप-ध्यान करो। पहले-पहल मन स्थूल विषयों में लगा रहता है। जप-ध्यान करने से वह धीरे धीरे सूक्ष्म विषयों को पकड़ना सीखता है। शीतकाल ही तो जप-ध्यान का समय है, और उम्र भी यही है। "इहासने शुष्यतु मे शरीरम्" कहकर बैठ जाओ। भगवान् सचमुच में हैं या

नहीं, एक बार आजमा ही लो न। थोड़ी थोड़ी तितिक्षा का अभ्यास करना अच्छा है--जैसे अमावस्या, एकादशी को एकाहार करना। फालतू गप्पें न मार सारा दिन ईश्वर का स्मरण-मनन करना। खाते-पीते, उठते-बैठते--सब समय। इस तरह करने से देखोगे कि कुलकुण्डलिनी शक्ति धीरे धीरे जग रही है। स्मरण-मनन से बढ़कर और भी क्या कोई चीज है? माया का परदा एक के बाद एक उठ जायगा। और तब देख सकोगे कि स्वयं के भीतर कितनी अद्‌भुत वस्तुएँ हैं। तब तुम स्वयंप्रकाश हो जाओगे।

दिन बीते जा रहे हैं, क्या कर रहे हो? ये दिन वापस नहीं आयेंगे। ठाकुर के पास प्रार्थना करो। वे अभी भी वर्तमान हैं। आन्तरिक हृदय से पुकारने से वे रास्ता दिखाते हुए ले जाते हैं। उन्हें छोड़ना नहीं, नहीं तो मरोगे। 'तुम मेरे' 'मैं तुम्हारा'--यही भाव चाहिए। इस रास्ते आकर यदि जप-ध्यान नहीं करोगे, उनमें मन को लीन करने की कोशिश नहीं करोगे, तो बहुत कष्ट पाओगे। मन खाली कामिनी-कांचन के लिए लालायित होकर घूमता रहेगा। सत्त्व का तम चाहिए--जैसे, अभी तक मुझे भगवान्-लाभ हुआ नहीं, तो इस अभागे जीवन को और क्यों रखना? ऐसा भाव होना अच्छा है।

ऋषिकेश के साधु लोगों का चालचलन ऊपर से तो मुक्त पुरुषों के जैसा है, पर वास्तव में वे लोग उस stage (अवस्था) में अभी पहुँचे नहीं हैं। वे हैं विचारानन्दी।

*

आचार्य शंकर

ब्रह्मचारी सन्तोष

(पूर्वार्ध)

आज से लगभग तेरह सौ वर्ष पूर्व केरल देश के कालाडी ग्राम में एक धर्मप्राण ब्राह्मण-परिवार रहता था। परिवार के कर्ता थे विद्याधर। उनके एक ही पुत्र था। नाम था शिवगुरु। उपनयन के पश्चात् शिवगुरु को गुरुकुल में पढ़ने के लिए भेजा गया। वहाँ उसने बड़े मनोयोगपूर्वक विद्याभ्यास किया। वह सदैव गुरु-सेवा, शास्त्र-अध्ययन और ध्यान-धारणा आदि में लगा रहता। अध्ययन की अवधि समाप्त हो गयी, फिर भी शिवगुरु घर न लौटा। उसके मन में वैराग्य जागा। उसने गुरुगृह में रहकर ही स्वाध्याय और साधना में जीवन बिताने का निश्चय किया।

शिक्षा-समाप्ति के पश्चात् भी जब बंहुत दिनों तक शिवगुरु घर न लौटे, तब उनके पिता विद्याधर बड़े चिन्तित हुए। गुरुकुल में जाकर उन्होंने पुत्र से भेंट की और इतने दिनों तक घर न लौटने का कारण पूछा। शिवगुरु ने ब्रह्मचर्य-व्रत धारण कर गुरुगृह में ही रहने की इच्छा प्रकट की। विद्याधर बड़े दुखी हुए। उन्होंने पुत्र को समझाया कि यदि वह गृहस्थ-आश्रम स्वीकार नहीं करेगा, तो उनके वंश का नाश हो जायगा।

शिवगुरु पिता का आग्रह न टाल सके और उनके साथ घर लौट आये। एक शुभ मुहूर्त में विशिष्टा देवी नामक एक अत्यन्त सुलक्षणा और सद्गुणसम्पन्ना कन्या

के साथ उनका विवाह कर दिया गया।

वर्ष पर वर्ष बीतते गये, शिवगुरु की उम्र ढलने लगी, किन्तु अभी तक उनके कोई सन्तान न हुई। उन्हें चिन्ता हुई कि पिता की आज्ञा मानकर जिस उद्देश्य से मैंने गृहस्थ-आश्रम स्वीकार किया था, वही उद्देश्य असफल हो रहा है। यदि हमें पुत्र-लाभ नहीं हुआ, तो हमारे वंश का नाश निश्चित है। फिर मैं पितृऋण से कैसे मुक्त हो सकूँगा ?

शिवगुरु ने निश्चय किया कि कठोर व्रतपूर्वक वे अपने इष्टदेव भगवान् शंकर की आराधना करेंगे और उनसे पुत्र-प्राप्ति का वरदान माँगेंगे।

गाँव के पास ही एक छोटे से पहाड़ पर भगवान् चन्द्रमौलि शिव का एक मन्दिर था। शिवगुरु पत्नी के साथ उस पर्वत पर गये और व्रत धारण कर वे दोनों भगवान् शिव की आराधना में लग गये। भक्त की आकुल प्रार्थना से आशुतोष शिव शीघ्र ही प्रसन्न हो गये। एक दिन भगवान् शंकर ने शिवगुरु को स्वप्न में दर्शन दिया और कहा, "वत्स ! मैं तुम्हारी आराधना से प्रसन्न हूँ। कहो, तुम क्या चाहते हो ?"

शिवगुरु ने अपने इष्टदेव के चरणों में प्रणाम कर निवेदन किया, "प्रभो ! यदि आप मुझ पर प्रसन्न हैं, तो मुझे एक दीर्घायु और सर्वज्ञ पुत्र दीजिए !"

भगवान् शंकर ने सहास्य कहा, "वत्स ! यदि दीर्घायु पुत्र चाहते हो, तो वह सर्वज्ञ न होगा और यदि

सर्वज्ञ पुत्र चाहते हो, तो वह दीर्घायु न होगा। बोलो, तुम क्या चाहते हो ?"

शास्त्रज्ञ शिवगुरु ने कहा, "भगवन् ! मुझे सर्वज्ञ पुत्र का ही वरदान दीजिए, भले ही वह अल्पायु हो।"

भगवान् उमापति ने कहा, "मैं ही पुत्ररूप में तुम्हारे घर जन्म ग्रहण करूँगा," और ऐसा कह वे अन्तर्धान हो गये।

शिवगुरु की नींद टूटी। आनन्दविभोर हो उन्होंने पत्नी को जगाया और स्वप्न की बात कही। वे भी आनन्द में डूब गयीं। उन्होंने व्रत का पारायण किया और अपने घर लौट आये। वर्ष समाप्त होते न होते ६०८ शकाब्द (ईस्वी सन् ६८६) वैशाख शुक्ल तृतीया की शुभ तिथि को मध्याह्न के समय उनके घर एक अद्-भुत शिशु का जन्म हुआ, जो आगे चलकर शंकराचार्य के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

बालक शंकर शुक्ल पक्ष के चन्द्रमा की भाँति दिनों-दिन बढ़ने लगा। वह अत्यन्त रूपवान और शान्त था। बोलना सीखते ही शिशु की अद्वितीय प्रतिभा प्रकट हुई। उसकी मेधा बड़ी तीव्र थी। वह श्रुतिधर था। एक बार जो कुछ सुन लेता, उसे वह कभी न भूलता। पिता ने उसकी प्रतिभा देखी। वे उसे मातृभाषा मलयालम में स्तोत्र सिखाते, कथा-कहानियाँ बताते। बालक तुरन्त वह सब याद कर लेता और पिता के पूछने पर उस सबकी आवृत्ति कर सुना देता। तीन वर्ष की अवस्था में ही वह अपनी

मातृभाषा में पुस्तकें पढ़ने लगा था। यद्यपि ब्राह्मण-बालक के उपनयन का विधान आठवें वर्ष में है, तथापि बालक शंकर की अद्भुत प्रतिभा को देख शिवगुरु ने निश्चय किया कि वे पाँच वर्ष की वय में ही उसका उपनयन-संस्कार कर उसे अध्ययन के लिए गुरुगृह भेज देंगे।

किन्तु विधि का विधान अगोचर है! बालक की तीन वर्ष की आयु होते न होते शिवगुरु की इहलीला समाप्त हो गयी। वैधव्य के महान् दुख से दुखित शंकर-जननी अपने शिशुपुत्र को ले पिता के घर चली गयीं। किन्तु उनके मन में पति की इच्छा को पूर्ण करने की तीव्र लालसा बनी हुई थी। अतएव शंकर की आयु के पाँच वर्ष पूरे होते न होते वे पुनः अपने घर लौट आयीं। घर आकर उन्होंने बालक का उपनयन-संस्कार किया और विद्याभ्यास के लिए उसे गुरु के घर भेज दिया।

पाँच वर्षीय बालक शंकर गुरु-सेवा और विद्याभ्यास में लग गया। थोड़े ही दिनों में गुरु को शिष्य की अद्वितीय प्रतिभा का परिचय मिल गया। वे बालक शंकर को जो भी एक बार पढ़ाते, वह उसे सीख लेता और स्मरण कर लेता। जब कभी आचार्य दूसरी बार उससे पूछते, तो वह ज्यों का त्यों पाठ उन्हें सुना दिया करता। इतना ही नहीं, जब आचार्य अन्य विद्यार्थियों को दूसरे पाठ पढ़ाया करते, तब शंकर आचार्य की सेवा के लिए उनके पास रहता और दूसरे विद्यार्थियों

को पढ़ाये जानेवाले पाठ भी अनायास ही सीख लेता। आचार्य को एक दिन शंकर की इस विलक्षण बुद्धिमत्ता का परिचय मिला। उस दिन से वे सभी कक्षाओं में शंकर को अपने पास बिठाने लगे। इस प्रकार अपने पाठ के साथ ही साथ शंकर अन्य विषय भी पढ़ने लगे। दो वर्ष की अल्प अवधि में ही उन्होंने व्याकरण, इतिहास, पुराण, स्मृतिशास्त्र, अर्थशास्त्र, योगशास्त्र आदि नाना विषयों को केवल सीख ही नहीं लिया, अपितु उन विषयों के वे पण्डित हो गये।

दो वर्ष समाप्त होने के पश्चात् आचार्य ने एक दिन शंकर से कहा, "वत्स ! तुम्हारी शिक्षा समाप्त हुई। तुमने सभी शास्त्रों का यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर लिया है। अब तुम अपने घर लौट जाओ।" आचार्य की आज्ञा से शंकर घर लौट आये। जननी विशिष्टा देवी पुत्र को घर आया देख आनन्द से विभोर हो उठीं।

शास्त्रों में विधान है कि अनाश्रमी होकर मनुष्य को एक दिन भी नहीं रहना चाहिए। विशिष्टादेवी ने सोचा कि शंकर की गुरुकुल-शिक्षा अब समाप्त हो गयी है, अतः उसे गृहस्थ-आश्रम में प्रवेश करना चाहिए।

अवसर देख माँ ने एक दिन शंकर से अपने मन की बात कही और विवाह कर लेने का आग्रह किया। किन्तु शंकर ने नम्रता परन्तु दृढ़तापूर्वक विवाह न करने का अपना निश्चय माँ के पास प्रकट किया। माँ दुखी हुईं। किन्तु शंकर अपने निश्चय में दृढ़ रहे। माता भी यह सोचकर चुप रह

गयीं कि बालक तो अभी छोटा ही है, बाद में समय आने पर फिर से चर्चा चला ली जायगी।

शंकर के मन में अपनी माँ के प्रति अपार भक्ति थी। वे सदैव माँ की सेवा में लगे रहते और उन्हें प्रसन्न रखने का प्रयत्न करते। माँ की सेवा और घर के कार्यों के अतिरिक्त जो भी समय बचता, उसे वे शास्त्रों के अध्ययन और मनन में लगाया करते।

धीरे धीरे उनकी विद्वत्ता की ख्याति चारों ओर फैलने लगी। ब्रह्मचारी बालक शंकर के पास वयोवृद्ध पण्डितगण भी शास्त्र पढ़ने और उनका मर्म समझने के लिए आने लगे। शंकर भी अभिमानशून्य हो परिश्रम-पूर्वक उन्हें शास्त्रादि पढ़ाते और उनकी शंकाओं का निवारण करते।

आठ वर्षीय बालक शंकर की इस विलक्षण प्रतिभा और विद्वत्ता की कीर्ति केरल-नरेश राजशेखर के कानों में भी पहुँची। वे स्वयं विद्वान् और गुणग्राही थे। अतः स्वाभाविक ही उनके मन में ऐसे अद्भुत विद्वान् बालक से भेंट करने की इच्छा जागी। मूल्यवान उपहारों के साथ उन्होंने अपने मंत्री को शंकर को लिवा लाने के लिए भेजा। मंत्री ने शंकर के पास जा उपहार भेंट किये और राजमहल में चलने का निमंत्रण दिया। किन्तु शंकर ने नम्रतापूर्वक उपहार और निमंत्रण अस्वीकार करते हुए कहा, "मंत्रीप्रवर! आप जाकर केरल-नरेश से कहिए कि मैं एक ब्राह्मण-ब्रह्मचारी हूँ। शास्त्रों का

पठन-पाठन तथा शास्त्रोक्त कर्म करना ही मेरा कर्तव्य है। राजप्रासाद से मेरा क्या प्रयोजन!"

मंत्री से शंकर का उत्तर सुन केरलाधिपति को बड़ा आश्चर्य हुआ तथा शंकर के प्रति उनकी श्रद्धा और भी बढ़ गयी। एक दिन वे स्वयं अपने अमात्यों के साथ शंकर के घर आये। राजा को आया देख, शंकर ने उनका उचित सम्मान किया। विद्याव्यसनी राजा ने शंकर से शास्त्र-चर्चा आरम्भ की। थोड़ी ही देर में राजा समझ गये कि शंकर अलौकिक ज्ञानवान बालक हैं। उन दोनों में विभिन्न विषयों और शास्त्रों पर चर्चा हुई और राजा ने पाया कि शंकर सभी शास्त्रों के पारदर्शी विद्वान् हैं। राजा का मस्तक श्रद्धा से ब्रह्मचारी शंकर के चरणों में नत हो गया।

शंकर की अद्भुत प्रतिभा का समाचार सुन कुछ विद्वान् ब्राह्मण ज्योतिषीगण उन्हें देखने आये। उन्होंने शंकर की जन्मकुण्डली देखी और वे उनकी विलक्षण मेधा की भूरि भूरि प्रशंसा करने लगे। पर साथ ही उन्होंने विशिष्टादेवी को यह भी बताया कि बालक की कुण्डली में अल्पायु-योग है तथा आठ, सोलह या बत्तीस वर्ष में निश्चित मृत्युयोग है।

पुत्र के अल्पायु होने की बात सुन विशिष्टा देवी बड़ी दुखी हुईं। शंकर ने भी अपने अल्पायु होने की बात सुनी। पर उनके मन में दूसरी प्रतिक्रिया हुई। उन्होंने सोचा कि यदि आठ या सोलह वर्ष में मेरी मृत्यु न भी हुई, तो बत्तीस वर्ष ही तो मेरी परम आयु है।

अतः इस अल्प समय में ही मुझे ज्ञानलाभ कर मुक्त हो जाना चाहिए। पर संन्यास के विना ज्ञानलाभ सम्भव नहीं। अतः शीघ्र ही संन्यास ग्रहण कर ज्ञान-प्राप्ति की साधना में मुझे लग जाना चाहिए।

एक दिन अवसर देख शंकर ने माँ से संन्यास ग्रहण करने की अपनी इच्छा प्रकट की। पुत्र की बात सुन त्रिशिष्टा देवी व्याकुल हो उठीं। पुत्र को छाती से लगा रोते हुए उन्होंने कहा--"बेटा! मुझ अनाथिन विधवा का तू ही तो एकमात्र सहारा है। यदि तू ही मुझे छोड़-कर चला जायगा, तो मैं किसके सहारे जिऊँगी? अपने जीते-जी मैं तुझे संन्यास लेने की अनुमति नहीं दे सकती। मेरी मृत्यु के पश्चात् भले ही तू संन्यासी हो जाना।"

जननी का दुख देख शंकर चुप रह गये। किन्तु उनके मन में संन्यास-ग्रहण की तीव्र लालसा बनी ही रही।

कुछ दिन बीते। किम्वदन्ती कहती है कि एक दिन शंकर माँ के साथ अपने गांव की नदी में स्नान करने गये थे। वहाँ एक मगर ने उनका पैर पकड़ लिया और वह उन्हें गहरे पानी में खींचने लगा। मृत्यु सामने देख शंकर ने कातर स्वर से अपनी माँ से इस अन्तिम समय में संन्यास लेने की अनुमति माँगी। पुत्र की अन्तिम इच्छा पूर्ण करने के लिए माँ ने रुदन करते हुए अनुमति दे दी। अपने इष्टदेवता का स्मरण कर शंकर ने मन ही मन संन्यास ग्रहण कर लिया। ईश्वर की लीला बड़ी ही विचित्र है। संन्यास ग्रहण करते ही शंकर मगर के

चंगुल से छूट गये। उनकी माता आनन्दविभोर हो पुत्र को ले घर लौट आयीं।

दिन भर विश्राम कर शंकर कुछ स्वस्थ हुए। सन्ध्यासमय उन्होंने अपनी माँ से कहा, "माँ! मैंने संन्यास ग्रहण कर लिया है, अतः अब मैं घर के भीतर रात नहीं बिताऊँगा। मैं बगीचे में किसी पेड़ की छाया के नीचे सोऊँगा।" पुत्र की बात सुन माता के सिर पर मानो वज्रपात हो गया। उन्होंने रोते हुए, शंकर को बहुत प्रकार से समझाने का प्रयत्न किया। किन्तु शंकर अपने संकल्प में दृढ़ रहे। अन्ततः जननी को पुत्र की बात माननी ही पड़ी। शंकर ने अपनी माँ को बताया कि संन्यासी को एक स्थान पर तीन दिन से अधिक नहीं रहना चाहिए, अतः मैं कल प्रातःकाल विधिवत् संन्यास ले गाँव छोड़कर चला जाऊँगा।

पुत्र के संकल्प से विशिष्टा देवी बड़ी दुखी हुईं। उन्होंने शंकर से कहा, "बेटा! तेरे चले जाने के पश्चात् मेरी जीविका कैसे चलेगी? और मृत्यु के पश्चात् मेरा अन्तिम संस्कार कौन करेगा?"

शंकर ने जननी को आश्वासन देते हुए कहा, "हमारी जो थोड़ीसी सम्पत्ति है, उसकी व्यवस्था मैं इस प्रकार कर देता हूँ, जिससे तुम्हारी जीविका चल जायगी। रही तुम्हारे अन्तिम संस्कार की बात; तो उसके लिए मैं तुम्हें वचन देता हूँ कि अन्तिम समय में जब तुम मेरा स्मरण करोगी, तब मैं योगबल से तुरन्त ही तुम्हारे

पास आ जाऊँगा और संन्यासी होकर भी तुम्हारा अन्तिम संस्कार करूँगा।"

पुत्र की आश्वासन-वाणी सुन विशिष्टा देवी के मन में एक अद्भुत शक्ति और विश्वास का उदय हुआ। उनके मन का विषाद एकदम दूर हो गया और वे स्वयं ही पुत्र के संन्यास लेने की व्यवस्था करने लगीं। दूसरे दिन प्रातःकाल ब्राह्म मुहूर्त में बालक शंकर ने विधिवत् संन्यास ग्रहण कर लिया।

गुरुकुल में आचार्य के पास पातंजल-महाभाष्य पढ़ते समय शंकर ने सुना था कि ऋषि पतंजलि योगी गोविन्दपाद के नाम से नर्मदा-तट में कहीं विराज रहे हैं। उस समय से उनके मन में यह इच्छा जागी थी कि अवसर पाते ही वे योगी गोविन्दपाद की शरण में जाकर उनसे योगविद्या सीखेंगे। आज वह सुअवसर आया। शंकर अब परिव्राजक-संन्यासी थे।

कहाँ केरल राज्य और कहाँ सुदूर नर्मदा-तट ! उन दिनों आवागमन के साधन भी इतने सुलभ नहीं थे। गिरि-कन्दराओं और वन-कान्तारों को पैदल ही पार करना होता था। मार्ग हिंस्र जन्तुओं से परिपूर्ण था। पग पग पर प्राणों का संकट था।

शास्त्रज्ञ शंकर यह जानते थे कि श्रेय का पथ बाधा-विघ्नों से भरा होता है तथा महान् कार्य के लिए महान् त्याग करना ही पड़ता है।

मार्ग के संकट दृढ़व्रती शंकर को भयभीत न कर

सके। माता के चरणों में प्रणाम कर मुण्डितमस्तक दण्ड-कमण्डलधारी आठ वर्षीय बालक-संन्यासी शंकर गुरु के सन्धान में चल पड़े। मार्ग की सभी कठिनाइयों को पार करते हुए दो महीने से कुछ अधिक समय में वे नर्मदा-तट पर स्थित पवित्र तीर्थ ओंकारेश्वर पहुँचे। वहाँ एक बड़ी गुफा में कई वयोवृद्ध संन्यासीगण रहा करते थे। बालक-संन्यासी शंकर को देख उन सबको बड़ा विस्मय हुआ। उन्होंने कौतूहलवश उनका परिचय पूछा। थोड़ी देर की चर्चा से ही वे लोग शंकर की प्रतिभा के कायल हो गये।

शंकर ने उन वृद्ध संन्यासियों को बताया कि वे इस ओर योगिराज गोविन्दपाद के दर्शन कर उनसे दीक्षा लेने की कामना से आये हैं।

एक वृद्ध संन्यासी ने कहा, "वत्स! योगिराज गोविन्दपाद यहीं एक गुफा में विराजमान हैं। किन्तु बरसों हो गये वे समाधि में ही बैठे हैं। उनकी समाधि के भंग होने की प्रतीक्षा में हम तरुण से वृद्ध हो गये, पर अभी तक उनकी समाधि भंग नहीं हुई है। तुम उनके दर्शन अवश्य कर सकते हो, किन्तु उनसे दीक्षा कैसे प्राप्त कर सकोगे?"

शंकर ने कहा, "संन्यासीप्रवर! आप मुझे उनके दर्शन भर करा दीजिए।"

उस बड़ी गुफा के भीतर ही एक छोटी गुफा थी। उसका मुँह छोटा था और वह अँधेरे से भरी थी। वृद्ध

संन्यासी ने एक दीपक जलाया और शंकर के हाथ में दीपक दे उन्हें रास्ता बताते हुए बोले, "गुफा के भीतर चले जाओ। वहाँ योगिराज विराजमान हैं।"

शंकर ने गुफा में प्रवेश किया। दीपक के प्रकाश में उन्होंने देखा कि एक दीर्घकाय जटाजूटधारी योगी पद्मासन में स्थिर भाव से बैठे हुए हैं। शंकर ने उन्हें साष्टांग प्रणाम किया और कातर कण्ठ से स्वरचित श्लोकों द्वारा वे योगी गोविन्दपाद से प्रार्थना करने लगे।

बालक-भक्त की कातर प्रार्थना सुन योगी गोविन्द-पाद के हृत्तंत्री के तार झंकृत हो उठे। उनकी समाधि टूटी। शरीर में स्पन्दन हुआ। उन्होंने एक दीर्घ निःश्वास छोड़ा। शंकर पुलकित हो उठे। अन्यान्य संन्यासियों ने भी यह दृश्य देखा। उनमें एक योगसाधक भी थे। किसी महायोगी की दीर्घ समाधि के भंग होने पर क्या करना चाहिए यह उन्हें विदित था। वे तुरन्त गोविन्द-पाद की सेवा में लग गये। थोड़ी देर में गोविन्दपाद का मन साधारण संसार की भूमि पर उतर आया। उन्होंने सस्नेह शंकर की ओर देखा। सभी ने उन्हें साष्टांग प्रणाम किया। वरिष्ठ संन्यासीगण सावधानीपूर्वक उन्हें गुफा के बाहर ले आये और उनके रहने की उचित व्यवस्था की।

एक शुभ दिन देख महायोगी गोविन्दपाद ने शंकर तथा अन्य संन्यासियों को दीक्षा प्रदान दी। अद्वितीय प्रतिभावान शंकर उनके प्रिय शिष्य हुए। गोविन्दपाद ने

पहले शंकर को हठयोग की शिक्षा दी। थोड़े ही दिनों में उन्होंने हठयोग की क्रियाओं को सीख लिया और एक वर्ष में ही वे उसमें सिद्ध हो गये। दूसरे वर्ष शंकर राजयोग में दीक्षित हुए। एक वर्ष में ही वे राजयोग में भी सिद्ध हो गये। उनके गुरु को अतीव आनन्द और साथ ही आश्चर्य भी हुआ। तीसरे वर्ष अपने अद्‍भुत शिष्य को उन्होंने ज्ञानयोग की शिक्षा दी। श्रवण, मनन और निदिध्यासन आदि द्वारा शंकर एक ही वर्ष में ज्ञान-योग में भी सिद्ध हो गये।

शंकर अब सर्वयोगसिद्ध योगी हो गये। गुरु गोविन्दपाद का कार्य समाप्त हुआ। एक दिन शंकर को बुलाकर उन्होंने कहा, "वत्स! तुम सभी योगों में सिद्ध होकर ब्रह्मस्वरूप में स्थित हो गये हो। मेरा कार्य समाप्त हुआ। अब मैं शरीर का त्याग करना चाहता हूँ। किन्तु मेरी एक इच्छा है कि तुम काशी जाओ और भगवान् विश्वनाथ के आदेशानुसार व्यासरचित ब्रह्मसूत्र पर भाष्य लिख सर्वसमन्वयकारी अद्वैत सिद्धान्त का प्रतिपादन करो। इस कार्य के द्वारा वैदिक धर्म की पुनःस्थापना कर धर्म की रक्षा करो।"

शंकर को यह आदेश दे एक शुभ दिन देख योगी गोविन्दपाद ने महासमाधि ले ली।

गुरु की आज्ञा शिरोधार्य कर शंकर अपने कुछ संन्यासी-गुरुभाइयों के साथ काशी के लिए चल पड़े। काशी पहुँचकर मणिकर्णिका घाट के समीप ही

एक स्थान पर शंकर ठहरे। ठहरने की व्यवस्था ठीक होते ही शंकर शास्त्र-चर्चा और अध्यापन के कार्य में लग गये। सूर्योदय होते ही जैसे उसका प्रकाश सर्वत्र फैल जाता है, वैसे ही थोड़े ही दिनों में शंकर के ज्ञान का प्रकाश समस्त काशी नगरी में फैल गया।

प्राचीन काल से ही काशी विद्या का केन्द्र रही है। उस समय भी काशी में विभिन्न सम्प्रदायों के विद्वान्, आचार्य और साधक आदि रहा करते थे। बालक-संन्यासी की कीर्ति सुन अनेक लोग उनके दर्शनार्थ आने लगे। कोई शास्त्रों का मर्म समझने के लिए उनके पास आता, तो कोई उनकी परीक्षा लेने। कोई शास्त्रार्थ करता, तो कोई तर्क; किन्तु सभी उनकी प्रतिभा के सम्मुख नतमस्तक हो जाते। शंकर सभी की शंकाओं का यथायोग्य समाधान करते। काशी में ही उनके मेधावी शिष्य सनन्दन उनके पास आये थे। आचार्य शंकर से संन्यास की दीक्षा ले परवर्ती काल में वे 'पद्मपाद' के नाम से प्रसिद्ध हुए। वे शंकर के प्रथम संन्यासी शिष्य थे।

काशी में विभिन्न मतावलम्बी विद्वानों से चर्चा करते समय शंकर ने यह अनुभव किया कि अद्वैत मत का ठीक ठीक प्रतिपादन करने के लिए 'प्रस्थान-त्रय' (ब्रह्मसूत्र, उपनिषद् और गीता) पर भाष्य लिखना आवश्यक है। कहते हैं कि भगवान् विश्वनाथ ने भी दर्शन देकर शंकर को ब्रह्मसूत्र पर भाष्य लिखने का

आदेश दिया था।

भाष्य-रचना के महान् कार्य के लिए किसी एकान्त तपोभूमि में जाना आवश्यक था। हिमालय से अधिक पवित्र और एकान्त स्थान और कौनसा हो सकता है? अतः आचार्य शंकर ने बदरिकाश्रम जाने का निश्चय किया। एक शुभ दिन भगवान् विश्वनाथ को प्रणाम कर शंकर अपने कुछ प्रमुख शिष्यों के साथ बदरिकाश्रम के लिए चल पड़े। अनेक तीर्थों के दर्शन एवं देवस्थानों का पुनरुद्धार करते हुए शंकर बद्रीनाथ पहुँचे।

बदरीधाम में आचार्य चार वर्ष रहे। यहाँ उन्होंने ब्रह्मसूत्र पर भाष्य लिखा। साथ ही एकादश उपनिषद्, गीता, विष्णुसहस्रनाम तथा सनत्सुजातीय ग्रन्थों पर भी उन्होंने भाष्यों की रचना की। बदरिकाश्रम में आचार्य के आवासादि की व्यवस्था ज्योतिर्धाम (वर्तमान जोशी मठ) के राजा ने की थी।

भाष्य-रचना का कार्य समाप्त कर शिष्यों के आग्रह से आचार्य उत्तराखण्ड के अन्यान्य तीर्थों के दर्शन के लिए निकले। केदारनाथ आदि प्रमुख तीर्थों के दर्शन कर आचार्य सशिष्य उत्तरकाशी आये। यहाँ विश्राम के लिए थोड़े दिन ठहरकर वे शिष्यों को भाष्य पढ़ाने लगे। कहते हैं, उस समय भगवान् कृष्णद्वैपायन वेदव्यास एक वृद्ध ब्राह्मण के रूप में उनके पास आये और उनसे ब्रह्मसूत्र के सम्बन्ध में बहुत से जटिल प्रश्न करने लगे। शंकराचार्य ने भी उन प्रश्नों का यथायोग्य उत्तर प्रदान

किया। शंकर की प्रतिभा से प्रसन्न हो व्यास ने उन्हें अपना असल स्वरूप दिखाया। शंकराचार्य ने भगवान् व्यास के चरणों में प्रणाम किया और अपने द्वारा रचित भाष्य उनके सामने रख दिया। सर्वज्ञ व्यासदेव ने ध्यानपूर्वक उस भाष्य को पढ़ा और प्रसन्न होकर कहा, 'वत्स! तुमने मेरे ब्रह्मसूत्र की ठीक ठीक व्याख्या की है। अब तुम आर्यावर्त का भ्रमण करो और देश में प्रचलित अवैदिक धर्मों का खण्डन कर वैदिक धर्म की पुनः स्थापना करो।"

(अगले अंक में समाप्य)

स्वामी विवेकानन्द और प्रोफेसर मैक्समूलर

वेद प्रकाश, इलाहाबाद

११ सितम्बर, १८९३ को शिकागो में विश्वधर्म-महासभा का अधिवेशन प्रारम्भ हुआ। इस सम्मेलन में प्रत्येक धर्म के सर्वोत्तम वक्ता भाग लेने के लिए पधारे थे। भारत से हिन्दू धर्म के प्रतिनिधि स्वामी विवेकानन्द के प्रथम व्याख्यान ने ही उनकी कीर्ति को सारे विश्व में फैला दिया। अमेरिका के सभी प्रमुख समाचार-पत्रों ने उनके चित्र प्रकाशित किये तथा उनकी वक्तृता की प्रशंसा की। सारे अमेरिकावासी स्वामीजी को देखने और उनका व्याख्यान सुननें को उत्सुक हो उठे। स्वामीजी भी उन्हें वेदान्त-धर्म का सन्देश देना चाहते

थे। अतः वे तीन-चार वर्ष तक वहीं रुक गये और अमेरिका के सभी प्रमुख नगरों में व्याख्यान देते हुए भ्रमण करते रहे। बीच बीच में वे इँग्लैण्ड में भी जाकर वेदान्त-प्रचार का अभियान चलाते रहे। उनकी अनुपस्थिति में इँग्लैण्ड में उनके कुछ अंग्रेज मित्र गीता-वेदान्त आदि की कक्षाएँ चलाया करते। बाद में वहाँ के कार्य में सहयोग देने के लिए स्वामीजी ने भारत से अपने एक गुरुभाई स्वामी सारदानन्द को भी बुला लिया।

इस प्रकार स्वामीजी ने तीन-चार बार लन्दन में पदार्पण किया था। प्रो० मैक्समूलर से मिलने की घटना उनके द्वितीय लन्दन-प्रवासकाल में घटी। सन् १८९६ ई० में प्रो० मैक्समूलर आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में भारतीय विषयों के परामर्शदाता थे। भारत के प्रति उनका स्नेह अतुलनीय था। उन्होंने ऋग्वेद का सायण-भाष्य सहित आंग्लभाषा में अनुवाद कर प्रकाशन कराया था, जिसके कारण भारत तथा विश्व के अंग्रेजी जाननेवालों के द्वारा वे अत्यन्त सम्मानित किये गये थे। भारत में चल रहे तत्कालीन आध्यात्मिक एवं सुधार-आन्दोलनों में भी वे रुचि रखते थे। ब्राह्मसमाज के नेता केशवचन्द्र सेन उनके मित्रों में से थे। केशवचन्द्र सेन के विचारों में एकाएक परिवर्तन का कारण ढूँढ़ते समय उन्हें श्रीरामकृष्ण परमहंस के महत्त्व का भान हुआ। परमहंस देव से वे इतने प्रभावित हुए कि उनके सम्बन्ध में उन्हें जो भी सामग्री मिलती, उसे अत्यन्त श्रद्धा और उत्सुकता

के साथ पढ़ जाते। जब उन्हें ज्ञात हुआ कि उन्हीं महान् परमहंस के एक शिष्य इस समय लन्दन में आये हुए हैं, तो उनके आनन्द का ठिकाना न रहा। अत्यन्त सौहार्द और स्नेह के साथ उन्होंने स्वामीजी को अपने घर आमंत्रित किया।

स्वामीजी के मन में प्रोफेसर से मिलने की इच्छा बहुत दिनों से थी। अतः उनका आमंत्रण उन्होंने प्रसन्नता-पूर्वक स्वीकार कर लिया। २८ मई, १८९६ ई० को स्वामीजी अपने एक अंग्रेज शिष्य ई० टी० स्टर्डी के साथ उनसे मिलने गये। सुन्दर उद्यान के बीच अवस्थित एक छोटे से मनोरम गृह में वृद्ध प्रोफेसर ने अपनी शीलवती पत्नी के साथ स्वामीजी का स्वागत किया। उनकी तुलना के लिए स्वामीजी के मानस में ऋषि वसिष्ठ के आश्रम और उनकी शीलवती पत्नी अरुन्धती का चित्र उभरा।

अत्यन्त सौहार्दपूर्ण अभ्यर्थना के पश्चात् बातचीत का क्रम आरम्भ हुआ। स्वामीजी ने उनके द्वारा ऋग्वेद के सायण-भाष्य पर किये गये कार्यों की सराहना की और आश्चर्य प्रकट किया कि इतना कठिन कार्य वे कैसे पूरा कर सके?

प्रोफेसर ने उन्हें बताया कि सायण-भाष्य के अन्तर्गत किसी संस्कृत शब्द या वाक्य का यथार्थ रूप से पाठ करने और उसका ठीक ठीक अर्थ ढूँढ़ निकालने के के लिए कभी दिन पर दिन और कभी महीनों व्यतीत

करना पड़ा, पर उन्होंने हिम्मत नहीं हारी। (ऋग्वेद के अनुवाद एवं सम्पादन में उनके जीवन के ४५ वर्ष लगे थे।)

प्रोफेसर ने उन्हें बतलाया कि उन्होंने श्रीरामकृष्ण के जीवन पर एक लेख लिखा है, जो "A Real Mahatman" (यथार्थ महात्मा) शीर्षक से अंग्रेजी भाषा की प्रमुख मासिक पत्रिका "नाइन्टीन्थ सेन्चुरी" में प्रकाशित होनेवाला है। यह जानकर कि प्रोफेसर ने श्रीरामकृष्ण का महत्त्व वास्तव में समझा है, स्वामीजी ने उनसे कहा, "प्रोफेसर! आजकल सहस्रों लोग श्रीरामकृष्ण की पूजा कर रहे हैं।" यह सुन आनन्दोज्ज्वल मुख से प्रोफेसर ने उत्तर दिया, "यदि लोग ऐसे व्यक्ति की पूजा नहीं करेंगे, तो और किसकी करेंगे?" और पूछा, "विश्व को उनसे परिचित कराने के लिए आप लोग क्या कर रहे हैं?" स्वामीजी ने संक्षेप में अपनी योजनाएँ बतायीं। प्रोफेसर उनकी योजनाओं से पूरी तरह सहमत हुए और वेदान्त-प्रचार के कार्य में हार्दिक सहयोग का वचन दिया। उन्होंने कहा कि यदि उन्हें श्रीरामकृष्ण के जीवन से सम्बन्धित सामग्री मिले, तो वे उन पर एक पुस्तक की रचना करना चाहेंगे। स्वामीजी ने उन्हें उपर्युक्त सामग्री उपलब्ध कराने का वचन दिया।

उन दोनों में भारत सम्बन्धी लम्बी वार्ता चली। जर्मन प्रोफेसर का भारत के प्रति अनुराग देख देशभक्त भारतीय संन्यासी मुग्ध होकर सोचने लगे, "मेरा अनुराग

यदि उनके अनुराग का सौवाँ अंश भी होता, तो मैं अपने को धन्य मानता !"

स्वामीजी ने उनसे पूछा, "आप भारत कब आ रहे हैं ? भारतवासियों के पूर्वजों की चिन्तनराशि (वेदों) को आपने यथार्थ रूप में लोगों के सामने प्रकट किया है, अतः वहाँ का प्रत्येक हृदय आपका स्वागत करेगा।" भारतभूमि में जाने की कल्पना मात्र से ऋषितुल्य वृद्ध प्रोफेसर का हृदय आनन्द से आप्लावित हो उठा और उनकी आँखें गीली हो गयीं। भाव के आवेग को रोकते हुए उन्होंने धीरे धीरे कहा, "तब तो मैं वापस नहीं आ पाऊँगा; आप लोगों को मेरा दाह-संस्कार वहीं कर देना होगा !"

अत्यन्त प्रीतिपूर्वक उन्होंने स्वामीजी तथा श्रीयुत स्टर्डी को भोजन कराया। तदुपरान्त वे उन्हें ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के कुछ कॉलेज और बोडलियन पुस्तकालय दिखाने ले गये। आँधी-पानी के बावजूद प्रोफेसर अपने अतिथि-मित्र को बिदा देने रेलवे स्टेशन तक आये। स्वामीजी ने संकोचपूर्वक कहा, "आप हमारे आराम और सुख के लिए इतना सब क्यों कर रहे हैं ?" उन्होंने उत्तर दिया, "श्रीरामकृष्ण परमहंस के एक शिष्य के साथ हमारी प्रतिदिन भेंट तो नहीं होती !"

दो मित्रों का यह प्रथम और अन्तिम मिलन था। तथापि पत्रों द्वारा वे एक दूसरे के निकट थे और भावों का आदान-प्रदान करते थे। "वे मुझे अत्यन्त सुन्दर पत्र

लिखते हैं, "स्वामीजी ने एकबार अपने मद्रास-स्थित एक शिष्य को लिखा। लन्दन में मई और जून मास बिताने के पश्चात् जुलाई के अन्तिम भाग में स्वामीजी स्विट्झरलैण्ड भ्रमण को गये। वहीं ५ अगस्त को उन्हें प्रोफेसर का एक लम्बा पत्र प्राप्त हुआ, जिससे उन्हें पता चला कि उनका श्रीरामकृष्ण के जीवन पर लिखित लेख 'नाइन्टीन्थ सेन्चुरी' पत्रिका के अगस्त अंक में प्रकाशित हो गया है। प्रोफेसर ने उस लेख के सम्बन्ध में उनकी सम्मति माँगी थी और श्रीरामकृष्णदेव के जीवन पर एक पुस्तक लिखने की इच्छा पुनः प्रकट की थी।

स्वामीजी ने अपने गुरुभाई स्वामी सारदानन्द के सहयोग से सामग्री संग्रह कर प्रोफेसर को भेजी, जिसका सूक्ष्म और आलोचनात्मक अध्ययन करने के पश्चात् प्रोफेसर ने 'रामकृष्ण और उनकी उक्तियाँ' नाम से एक ग्रन्थ की रचना का शुभारम्भ किया। लगभग दो वर्ष बाद १८ अक्तूबर, १८९८ को यह ग्रन्थ प्रकाशित हुआ, जिसने विश्व के अंग्रेजी पढ़े-लिखे बहुत से लोगों को अपनी ओर आकृष्ट किया। कहना न होगा कि पश्चिम में स्वामीजी द्वारा प्रारम्भ किये गये वेदान्त-आन्दोलनों को यह ग्रन्थ बहुत सहायक सिद्ध हुआ।

स्वामी विवेकानन्दजी का ऐसा विश्वास था कि सायणाचार्य ने ही ऋग्वेद पर किये गये अपने संस्कृत-भाष्य के उद्धार के निमित्त पश्चिम में प्रोफेसर के रुप में

पुनः जन्म ग्रहण किया था।† उनकी दृष्टि में प्रोफेसर वेदान्तियों में भी एक श्रेष्ठ वेदान्ती थे। प्रो० मैक्समूलर ने हिन्दुओं के प्राचीनतम धर्मग्रन्थ पर अपने जीवन का सर्वोत्तम भाग अर्पित कर उसे जगत् के समक्ष प्रस्तुत किया तथा युगावतार श्रीरामकृष्ण के जीवन एवं विचारों के माध्यम से नवीन हिन्दू धर्म का भी विश्व से परिचय कराया। 'ब्रह्मवादिन्' पत्रिका में स्वामीजी लिखते हैं, "...जब मैं उनके उस महान् कार्य के बारे में सोचता हूँ, जिसे उन्होंने अदम्य उत्साह के साथ अपनी यौवनावस्था में हाथों में लेकर वृद्धावस्था में उसकी सफलतापूर्वक परिसमाप्ति की, तब तो मैं दंग रह जाता हूँ।... इस सत्य की कभी उपेक्षा नहीं की जा सकती कि हमारे पूर्वजों के साहित्य की रक्षा, उसका विस्तार एवं उसके प्रति श्रद्धा उत्पन्न करने के लिए हम सबमें जो कोई जितना करने की आशा कर सकता है, इस अकेले व्यक्ति ने उससे सहस्रगुना अधिक किया है और यह कार्य उन्होंने अत्यन्त श्रद्धा एवं प्रेमपूर्ण हृदय के साथ सम्पन्न किया है।"

•

† देखिए—विवेकानन्द साहित्य, खण्ड ६, पृष्ठ ५३।

अमेरिका में स्वामी विवेकानन्द

ब्रह्मचारी देवेन्द्र

(गतांक से आगे)

२३ तारीख को प्रातःकाल स्वामीजी डिट्रायट से बिदा हो एडा, ओहियो के लिए रवाना हुए। यद्यपि डिट्रायट में उनका निवास दो हफ्ते से भी कम था, पर शायद बहुत कम ही लोग रहे होंगे, जिन्होंने उनके बारे में न सुना हो। उनकी लोकप्रियता का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि उनके रवाना होने के ही दिन शाम को बच्चों के एक 'फैन्सी कार्निवाल' (आनन्द-मेले) में एक छोटा 'कानन्दा' हूबहू वैसी ही वेशभूषा और पगड़ी पहने उपस्थित हुआ, जिसने लोगों को अपनी ओर सर्वाधिक आकृष्ट किया और जिसकी अखबारों में भी चर्चा हुई।

स्वामीजी के इस अन्तिम व्याख्यान ने जहाँ उदारमना, चिन्तनशील व्यक्तियों के हृदय को झकझोर दिया, वहीं कट्टरपन्थियों के ऊपर मानो बम का विस्फोट कर दिया। विशेषकर, वे लोग भारत में ईसाई मिशनरियों की गतिविधियों की आलोचना नहीं पचा पाये। स्वामीजी ने उनकी आलोचना करते हुए यह जो कहा था कि 'अपने दम्भ और आत्मश्लाघा के बावजूद बिना तलवार की सहायता के क्या तुम्हारी ईसाइयत सफल हुई है?' तथा इसी प्रकार के अन्य जो वचन कहे थे, वे सब उनके मर्मस्थलों में शूल की नाईं चुभने लगे। डिट्रायट से स्वामीजी के जाते ही गिरजाघर की वेदियाँ

उनके विरुद्ध मुखरित हो उठीं। उनके विरुद्ध सब प्रकार का दुष्प्रचार किया जाने लगा। पर उनके शुभचिन्तकों की भी कमी नहीं थी, जिन्हें उनके प्रति अपमान सह्य न था। ऐसे ही एक हितैषी ने 'जस्तीशिया' के छद्मनाम से २३ फरवरी के 'फ्री प्रेस' में एक पत्र प्रकाशित किया--

कानन्दा की प्रशस्ति में

सम्पादक, डिट्रायट फ्री प्रेस,

स्वामी विवेकानन्द द्वारा ईसाई धर्म के विरुद्ध किये गये आक्षेपों के बारे में बहुत-कुछ कहा गया है। मैं नहीं समझती कि जिस किसी ने उनके व्याख्यानों को सुना है, वह सचाई से यह कह सकता है कि उनका आघात सीधे धर्म पर ही था— अर्थात् ईसा द्वारा सिखाये धर्म पर। इसके विपरीत, उन्होंने तो सदा ही प्रेम और श्रद्धा के साथ ईसा मसीह और उनके कार्यों की चर्चा की है। उन्होंने जिसकी निन्दा की, वह एक ओर थी तथाकथित ईसाई धर्म के बाह्य स्वरूप की, सम्प्रदायों और मतबहुलता की, अन्धविश्वास और कट्टरता की, जिन सबके कारण हमारा धर्म गिरता जा रहा है और दूसरी ओर उन्होंने बेईमानी, नृशंसता, असहिष्णुता तथा घोर स्वार्थपरता की निन्दा की, जो हमारे सामाजिक और व्यापारिक जीवन पर प्रभुत्व जमाये हुए हैं। उन्होंने हमें बताया कि भारत में, जहाँ जनसंख्या ३० करोड़ है तथा जो क्षेत्रफल में संयुक्तराष्ट्र का आधा है, अन्न के अभाव में साधारण तौर पर वास्तव में कोई कष्ट नहीं पाता; केवल दुर्भिक्ष के दिनों में जबकि अनाज दुर्लभ होता है, माँगने की नौबत आती है, और जिसके पास अन्न होता है, वह अन्नहीनों को उदारता के साथ इसका वितरण करता है। पर वे आज इस देश में क्या देखते हैं? इस देश में जो क्षेत्रफल में उनके देश से दुगुना है तथा जिसकी जनसंख्या मात्र ६ करोड़

५० लाख है--वे देखते हैं सैकड़ों और हजारों अधनंगों को ठण्ड और भूख से मरते हुए--इसलिए नहीं कि यहाँ अन्न का अभाव है, इसलिए नहीं कि हमारे यहाँ वस्त्रों के लिए ऊन तथा कपास की कमी है, यहाँ तो इन सब चीजों की प्रचुरता है और कष्ट-निवारणार्थ ये सब चीजें बहुतायत से प्राप्त की जा सकती हैं; बल्कि इसलिए कि हमारी कृत्रिम औद्योगिक परिस्थितियाँ, हमारी स्वार्थपूर्ण धनलिप्सा तथा संचय-परायणता इतनी भयानक है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने अन्य मानव-बन्धु का ख्याल न कर केवल अपने लिए जीता है; फलस्वरूप जबकि बहुतों के पास कुछ भी नहीं है, मुट्ठी भर लोग प्रायः सारा का सारा लेकर बैठे हैं ! क्या ईसा का ईसाई धर्म से यही तात्पर्य था, जब उन्होंने कहा, "अपने पड़ोसी से वैसा ही प्यार करो, जैसा स्वयं से करते हो"? मैं इसे अस्वीकार करती हूँ ।

फिर, जब हम यह जान पाते हैं कि कानन्दा से व्यक्तिगत रूप में कैसा व्यवहार किया गया, तो उनके द्वारा कहे कुछ कटु सत्यों पर क्या हमें आश्चर्य होना चाहिए ? शिकागो में उन्हें मतान्ध स्त्रियों की, वह भी अमरीकी स्त्रियों की दुष्टता और उत्पीड़न का शिकार होना पड़ा, इस पर भी जरा सोचिए ! इस शहर में उन्हें प्रायः प्रत्येक डाक में अत्यन्त अपमानजनक पत्रों की बौछारों का सामना करना पड़ा है। इससे पूर्व कि वे यहाँ के नागरिकों के बीच एक शब्द भी बोल पाते, एक स्त्री ने निर्लज्जता के साथ उन पर आक्रमण किया और उनके मुख पर अत्यन्त अशिष्टतापूर्वक निन्दा की--और वह भी उस घर में, जहाँ वह उनसे भेंट करने के लिए अतिथि के रूप में आमंत्रित की गयी थी! लेक्चर-टूर की व्यवस्था में भी उनके साथ अत्यन्त अन्यायपूर्वक व्यवहार किया गया। उनकी आँखों में धूल झोंकी गयी, क्योंकि वे व्यापार में ठगी के तथा जिस किसी भी निम्न तरीके से लाभ

उठाने के हमारे रीति-रिवाज और तौर-तरीकों से अनभिज्ञ थे। हमारे कुछ रूढ़िवादी पादरियों द्वारा उनके विरुद्ध प्रायः वहशीपने से प्रचार किया गया है। ये लोग सिवा अखबारों की सूचनाओं के, जो कि मेरी राय में अधूरी और अत्यन्त भ्रान्तिकारी हैं, यह नहीं जानते कि उन्होंने वास्तव में क्या कहा। ये व्यक्ति उन्हें पहले बिना सुने निर्णय देने का कैसे साहस करते हैं! "निर्णय न दो, जिससे कि तुम्हीं कहीं ऐसे निर्णय के शिकार न हो जाओ!"

ऐसी परिस्थिति में कोई आश्चर्य नहीं कि उन्होंने हमारे कुछ दोषों को दर्शाया हो। मुझे लगता है, यह हमारे लिए एक अच्छी बात है कि ईसाई-जगत् के बाहर के लोग आयें और हमें बतलायें कि हम उन्हें कैसे प्रतीत होते हैं। मैं तो कहती हूँ कि हमें थोड़े से नहीं बल्कि और भी अनेक कानन्दा प्रदान करो, ताकि हम स्वयं को दूसरों की आँखों से देख सकें। हम अपनें को 'शान्त ईसा' के उपासक होनें का दावा करते हैं, जिन्होंने हमें सहिष्णुता और प्रेम का पाठ पढ़ाया; पर यह कैसी बात है कि हम अतीत में सदा हत्या करनें तथा अत्याचार करने के लिए तैयार रहे और आज जो हमसे मतभेद रखता है उस पर कटुता के साथ आक्रमण करने और आघात पहुँचानें में तत्पर हैं। हमारे धर्मोपदेशक मानव के सार्वभौमिक भ्रातृभाव का उपदेश तो देते हैं, पर जब एक पूर्वदेशीय भाई हमारे पास आता है, तो उसे देने के लिए हमारे पास सिवा तिरस्कार के और कुछ नहीं। फिर हम उससे यह कैसे आशा करें कि वह हमारे बारे में अन्य दूसरी राय बनायेगा?

पर कानन्दा! आप हम सबों को इतना संकीर्ण और अनुदार न समझिए। हममें कुछ ऐसे अवश्य हैं---भले इनकी संख्या अधिक न हो, जिसका कि मुझे दुख है---जो सचमुच में

अपने को उस मतान्धता और अन्धविश्वास से दूर करने की कोशिश करते हैं, जो मालूम नहीं कैसे हमारे मत के साथ जुड़ गया है, तथा सच्चाई के साथ जूडिया के उस विनम्र और शान्त शिक्षक का अनुसरण करना चाहते हैं, जिसके प्रेम में सारे विश्व को स्थान प्राप्त था। हम सभी आपकी ओर स्वागत और भ्रातृभाव का हाथ बढ़ा आपको 'भ्राता' के नाम से सम्बोधित करते हैं।

जस्तीशिया

जस्तीशिया के इस पत्र के साथ ही 'डिट्रायट फ्री प्रेस' के पाठकों के पत्रवाले कालम में स्वामीजी के पक्ष और विपक्ष में पत्रों का आदान-प्रदान प्रारम्भ हो गया, जो फरवरी के अन्त तक चलता रहा। पत्रों का मुख्य आधार यह था कि स्वामीजी के बारे में कुछ निर्णय देने से पूर्व उन्हें सुनना आवश्यक है अथवा नहीं। श्रीमती बर्क लिखती हैं, "यद्यपि यह वादविवाद निरर्थक था, पर उसने इस सत्य को उद्घाटित कर दिया कि जिन्होंने स्वामीजी को देखा अथवा सुना था, उन्हें यह विश्वास हो गया था कि वे मात्र वक्ता नहीं वरन् एक शक्ति थे, तथा उनको देखना एवं सुनना एक ऐसी अनुभूति थी, जिसका मर्म कोई शब्दों के द्वारा प्रकट नहीं कर सकता था। यह स्पष्ट है कि स्वामीजी के व्याख्यान महत्त्वपूर्ण थे, पर यह महत्ता उस वस्तु का एक अल्पांश मात्र ही थी, जिसे उन्होंने अमेरिका को अपने अत्यन्त शक्तिशाली व्यक्तित्व के द्वारा प्रदान किया। इसके अतिरिक्त, जिन्होंने भी उन्हें सुना, उन्होंने उनके 'मृदु व्यवहार' उनके 'स्वतंत्र, उदार तथा पवित्र व्यक्तित्व' आदि की

हमेशा प्रशंसा की। उनके भाषणों तथा आलोचनाओं को पढ़ने से कभी कभी उनमें उग्रता की झलक अवश्य मिलती है, पर बहुत कम। वे कभी कटु नहीं हुए और सिवा उनके शत्रुओं के उनके श्रोताओं ने शायद ही उनकी झिड़कियों पर रोष प्रकट किया हो, क्योंकि सभी के प्रति उनका प्रेम ऐसा था, उनकी उन्नायक शक्ति ऐसी थी कि बहुतों को उनमें सिवा मंगलकामनाओं के और कुछ अनुभव नहीं हुआ।" स्वामीजी के विरोध में जिन्होंने पत्र लिखा, उन्होंने या तो स्वामीजी को सुना नहीं, और यदि सुना भी, तो पूर्वाग्रह के साथ। इसका परिचय जस्तीशिया के पत्र के विरोध में 'ऑक्सीडेण्टल' (पाश्चात्यवासी) के छद्मनाम से लिखे पत्र में मिलता है, जो २५ फरवरी के 'फ्री प्रेस' में प्रकाशित हुआ--

सम्पादक, डिट्रायट फ्री प्रेस,

मैं उनमें से एक हूँ, जिन्हें शुक्रवार के प्रातःकालीन 'फ्री प्रेस' के पत्र-व्यवहार में मि० कानन्दा को बिना सुने आलोचना करनेवाले बताया गया है। अतः यह आवश्यक है कि मैं अपनी स्थिति स्पष्ट करूँ। मि० कानन्दा बिना मेरी इच्छा के आलोचना के एक विषय के रूप में मुझ पर थोप दिये गये हैं। मेरे कुछ अभिन्न और स्नेही मित्रों ने, जिन्होंने इस हिन्दू संन्यासी को सुना है, मेरे समक्ष उनके दो-एक व्याख्यानों के सम्बन्ध में चर्चा करने में कोई झिझक महसूस नहीं की, और इस प्रकार मुझ पर यह भार आ पड़ा है कि या तो मैं अपने धर्म का संरक्षण करूँ अथवा हुई चर्चा को चुपचाप स्वीकार कर लूँ। अब यह बात दृढ़तापूर्वक कही जा रही है कि विषय के साथ समुचित न्याय

करने के लिए उनके व्याख्यानों को सुनना आवश्यक है।

मेरी स्थिति ऐसी है, जो केवल उन विवरणों पर आधारित है, जिन्हें मेरे मित्रों ने सुना है। मेरे मन में यह धारणा दृढ़ता से बैठ गयी है कि पूर्व का यह व्यक्ति सत्य के साथ चालबाजी करने में वैसा ही निपुण है, जैसा कि उसके ऐन्द्रजालिक देशवासी अण्डों अथवा अन्य भौतिक वस्तुओं को इच्छानुसार उत्पन्न और गायब करने में सिद्धहस्त हैं। कृपया इससे यह अनुमान न लगा लीजिए कि मुझे उसके वचनों से अपने मत के प्रति विश्वास डगमगा जाने का भय हुआ हो। यदि ऐसा हो, तो इससे निश्चित रूप से मेरी दृढ़ता का अभाव ही सिद्ध होगा। इसके विपरीत, आप यही अनुमान कीजिए कि पवित्र सत्यों को छल और धूर्तता का पुट देकर प्रस्तुत करने के लिए उसके प्रति मेरे मन में तिरस्कार ही है।

अब आप कृपया ईसाई धर्म के प्रति बरती गयी मि० कानन्दा की अनुदारता के दो-एक दृष्टान्तों को समझने की कोशिश कीजिए। अपनी एक चर्चा के दौरान उन्होंने यहाँ उन्हें भेजे गये कुछ पत्रों अथवा उनके अंशों को पढ़कर सुनाया। उन्होंने बताया कि इनमें से एक में एक चित्र है, जिसके लिए वे धन्यवाद ज्ञापित करना चाहेंगे। उन्होंने आगे कहा कि इस चित्र को "हमारे मुक्तिदाता का हृदय" कहकर निरूपित किया गया है! निस्सन्देह बिना किसी टिप्पणी के उनका इतना कहना ही ईसाई धर्म के विश्वासी श्रोताओं पर एक व्यंग्यपूर्ण मुसकराहट दौड़ाने के लिए पर्याप्त था। उनके इस कथन से संशयवादियों के मन में कैसी भावनाएँ उभरी होंगी, इस सम्बन्ध में कुछ न कहना ही ठीक होगा। जो हो, मि० कानन्दा यह अवश्य जान गये होंगे कि चित्र भेजनेवाले ने चित्र के द्वारा हमारे धर्म की आत्मा का ही प्रकट करने की इच्छा रखी होगी। तथापि सौ में से नब्बे व्यक्ति शान्ति

से विचार करके कहेंगे, और उन्हें कहना चाहिए, कि यद्यपि भेजनेवाले का मुक्तिदाता के इस प्रतीक के पीछे आत्यन्तिक प्रेम की कोमल भावनाएँ ही थीं, पर एक विरोधी के हाथ उपहास का एक और शस्त्र दे देने में समझदारी की अपेक्षा भावुकता ही अधिक थी। पर क्या मैं पूछ सकता हूँ कि इस प्रकार की पवित्र वस्तु के साथ बर्ताव करनें का क्या यह एक अच्छा तरीका है ?

और फिर एक प्रश्नकर्ता के यह जानने की इच्छा करने पर कि उनके देश में लोग विधवाओं को जलाते हैं अथवा नहीं, मि० कानन्दा नें सत्य को छिपाते हुए कहा कि विधवाएँ स्वयं अपने आपको जला डालती हैं। और इतना कहकर यह भी जोड़ दिया, 'हम भारत में डायनों को नहीं जलाते।' यहाँ पर भी उन्होंने वही अनुदारता और व्यंग्य प्रदर्शित किया। क्या मि० कानन्दा गम्भीरतापूर्वक यह विचार रखते हैं कि हम लोग डायनों को जलाना अपनी धार्मिक आस्था के अन्तर्गत मानते हैं, अथवा कि ईसाई-जगत् ने कभी ऐसा माना है ?

जो भी हो, हम अपने को प्रगतिशील समझते हैं तथा बिना किसी भय के निश्चय के साथ कहते हैं कि ईसाई धर्म ने अन्य धर्मों की अपेक्षा मानवसमाज को सभ्य बनाने में अधिक योगदान दिया है। फिर मि० कानन्दा क्यों व्यंग्योक्ति करते हैं ? इसमें सन्देह नहीं कि हमारे यहाँ का स्पेनिश धर्मान्तरण, स्काटिश चर्च तथा सालेम की घटनाएँ हमारे धर्मावलम्बियों को लज्जित करनेवाली रही हैं। पर भगवान् को धन्यवाद है कि जो घटनाएँ हाल में सिपाही-विद्रोह के समय घटीं, वैसी ईसाई धर्म के सभ्यीकरण के प्रभाव में नहीं घटीं।

अन्त में मुझे एक सुझाव देना है कि यदि कोई मित्र मि० कानन्दा को, उनके शहर छोड़नें से पूर्व, विदाई में सान्ध्य-संगीत सुनाना चाहें, तो उन्हें एक स्कॉच बैण्ड पार्टी प्राप्त कर लेनी

चाहिए, जो 'कैम्पबेल आ रहे हैं' की धुन सुनाये। यहाँ स्मरणीय है कि लखनऊ में घिरे हुए लोगों के कानों को प्रफुल्लित करनेवाली यही धुन थी, जिसनें उन लोगों को सूचना दी कि मुक्ति अब निकट ही है।

डिट्रायट, २४ फरवरी ऑक्सीडेण्टल

इसके पूर्व कि 'जस्तीशिया' को इस पत्र का उत्तर देने का अवसर मिलता, एक पत्र 'जिसने सारे व्याख्यान सुने' के नाम से प्रकाशित हुआ--

सम्पादक, डिट्रायट फ्री प्रेस,

मैंने आज के प्रातःकालीन 'फ्री प्रेस' में 'ऑक्सीडेण्टल' द्वारा लिखा पत्र देखा। यह सुनकर कि कानन्दा को बिना सुने उनके बारे में निर्णय नहीं दिया जा सकता, लेखक ने आश्चर्य प्रकट किया है कि क्या वह अपने मित्रों द्वारा उनके भाषणों के बारे में बतलाये गये समाचार के आधार पर निर्णय नहीं दे सकता? मुझे तो लगता है कि जब बिना सुने ही कोई किसी के बारे में अपनी राय दे सकता है, तब तो कोई केवल सुनकर ही बड़ी सरलता से रफेल के चित्र की आलोचना भी कर सकता है। तब तो मैं भी अपने किसी मित्र का मोजार्ट के किसी गीतिनाट्य की लय-तान पर गुनगुनाना और सीटी मारना सुनकर उसके बारे में अपनी राय दे सकता हूँ, जैसा कि इस लेखक ने ब्राह्मण-अतिथि के बारे में, बिना उससे भेंट किये अथवा उसे सुनें, किया है। भले ही लेखक अपनी राय को शब्दजाल में बाँधने में कितना ही आडम्बर-पूर्ण क्यों न हो, पर वास्तविकता तो यह है कि इस प्रकार की स्थिति में कोई निर्णय देना अथवा अपनी राय देने का साहस करना अत्यन्त मूर्खतापूर्ण प्रतीत होता है। संन्यासी के बारे में अपनी अज्ञता स्वीकार करते हुए भी लेखक उनके बारे में तुरन्त अपने विचारों की मुहर लगाकर उन्हें सर्वथा निरर्थक और चर्चा

के अनुपयुक्त करार देता है। उसे यह जानना चाहिए कि सुनी-सुनायी बातों पर विश्वास नहीं किया जा सकता। वक्तव्य जब कुछ हाथों से गुजरते हैं, तो सभी प्रकार से विकृत होकर बाहर निकलते हैं। लेखक ने इसी प्रकार की अपर्याप्त और भ्रमात्मक सूचना पर अपनी राय कायम की है। मैं कानन्दा का किसी प्रकार का प्रशस्ति-गान करने के इरादे से यह सब नहीं कह रहा हूँ, पर यह अनुचित न होगा कि इस पत्र-लेखक को सम्मान के साथ यह सलाह दी जाय कि वे इस संन्यासी को, जब वह पुनः यहाँ आये, जाकर सुनें और जो वह कहता है उसे सावधानी के साथ आत्मसात् करें, चिन्तन करें तथा अपने धुँधले मस्तिष्क से पूर्वाग्रह का परिधान निकाल फेंकें और तब, प्रार्थना और उपवास में कुछ समय बिता, इस आगन्तुक के आध्यात्मिक उपदेशों के बारे में अपनी राय कायम कर पुनः दूसरा पत्र 'फ्री प्रेस' को भेजें।

मैं भाषण में था और कानन्दा ने डायनों के बारे में जो कहा, वह मैंने सुना। उन्होंने ईसाइयों पर कोई आक्षेप नहीं किया। उन्होंने जो कहा वह यह था कि यात्री लोग जो अतिशयोक्तिपूर्ण वक्तव्य देते हैं कि भारतवासी अपनी विधवाओं को आग में झोंक देते हैं, वह सत्य से परे है। इस मिथ्या को नकारते हुए उन्होंने यह और कहा, "किन्तु भारत में उन्होंने डायनों को कभी नहीं जलाया।" ईसाई धर्म के प्रति उनका मात्र यही तथाकथित आक्षेप था। उपर्युक्त पत्र का निष्कर्ष गम्भीरता से लेने लायक नहीं है। कानन्दा का कथन है कि भारत में हिन्दू ईसाई मिशनरियों को सहिष्णुता के साथ ग्रहण करते हैं। वे उन पर मुसकराते हैं और कहते हैं, "उन्हें आगे बढ़ने दो। वे धर्म के क्षेत्र में बच्चे हैं। उन्हें जरा अपने को खुश कर लेने दो।" वे मिशनरियों को एक लम्बी दार्शनिक मुसकराहट के साथ देखते हैं। और

हम लोगों ने इस अकेले हिन्दू मिशनरी से कैसा अलग व्यवहार किया है ? भले ही हमने उन्हें पत्थरों से नहीं मारा, अथवा नर-हत्यारों की भाँति डेगची में उबालने की कोशिश नहीं की, परन्तु हमने उन्हें अनाम निकृष्ट पत्रों द्वारा सब प्रकार की गन्दी गालियाँ दी हैं और नरमाई से, बिना किसी नाम की सही के, उन्हें यह सूचित किया है कि परलोक में एक उष्ण स्थान उनकी राह देख रहा है। फिर, हमने उस धन से भी उन्हें लूट लिया, जिसके कि वे वक्ता के रूप में हकदार हैं। अतएव आश्चर्य नहीं कि वे अमरीकनों के इस देश को धनलिप्सा-प्रेमी देखकर उनके प्रति कटु हो गये हों; विशेषकर यह अनुभव करने के बाद कि वे भारत में एक शैक्षणिक संस्था स्थापित करने की अपनी विशाल योजना को मूर्त रूप देने के लिए अपने व्याख्यानों द्वारा जो उपार्जन करना चाहते थे, वह कुछ न कर पाये, क्योंकि उनके बेईमान व्यवस्थापकों ने लगभग सारा का सारा धन हड़प लिया। कानन्दा धन का महत्त्व नहीं जानते। वे व्यावसायिक व्यवस्थापकों के सहज शिकार बन गये। मैं कानन्दा का बड़ा प्रशंसक नहीं, पर मैं प्रत्येक के साथ न्यायोचित व्यवहार चाहता हूँ, भले वह 'हीदन' ही क्यों न हो।

डिट्रायट, २५ फरवरी जिसने सारे भाषण सुने

'ऑक्सीडेण्टल' ने इस पत्र का जवाब तो दिया, पर गोलमटोल ढंग से। वह 'जस्तीशिया' और 'जिसने सारे भाषण सुने' के बीच भेद नहीं कर पाया और उसकी स्थिति खिसियानी बिल्ली खम्भा नोचे की-सी हो गयी। यह 'जस्तीशिया' थी, जिसने 'ऑक्सीडेण्टल' के पत्र का उत्तर दे उसे चुप कर दिया। उसका पत्र २६ फरवरी के 'फ्री प्रेस' में प्रकाशित हुआ--

सम्पादक, डिट्रायट फ्री प्रेस,

मेरे पिछले पत्र के उत्तर में 'आक्सीडेण्टल' के पत्र का उल्लेख करते हुए मुझे खुशी है कि महाशय को अपनी रक्षा की आवश्यकता महसूस हुई है। उन्होंने यह स्वीकार किया है कि धर्मान्तरण, स्काटिश चर्च और सालेम का अत्याचार हमारे अतीत पर दाग है। पर उन्होंने जिस ढंग से सिपाही-विद्रोह को पूर्वीय आस्था का हाल का परिणाम निरूपित किया है, उससे कोई भी यह अनुमान करेगा कि वे यह बताना चाहते हैं कि हमारे आधुनिक जीवन में ऐसा कोई धब्बा नहीं, जिससे हमें लज्जित होना पड़े। पहली बात तो यह है कि सिपाही-विद्रोह का कारण पूर्णतया कोई धार्मिक विषय न था। वह तो प्रजा का विदेशी शासन के विरुद्ध जागरण था और यदि अंग्रेजों ने भारत से अपना हाथ हटा लिया होता, तो यह घटना न हो पाती। यह आपस में भाई-भाई की हत्या नहीं थी। अब जरा ईसाई-जगत् की ओर देखें। क्या 'आक्सीडेण्टल' महाशय फ्रांस की क्रान्ति को भूल गये हैं, जो अपने ही रक्त वाले और अपने ही धर्म के अनुयायी शासकों के विरुद्ध जनता का आन्तरिक विद्रोह था और जिसकी नृशंसता सिपाही-विद्रोह से यदि ज्यादा न हो तो कम भी नहीं थी ? और फिर भी फ्रांस सदियों से ईसाई बना चला आ रहा है। अपने ही देश और युग को ले लें, क्या वे 'वार ऑफ रिबेलियन' (विद्रोहियों का युद्ध) को भी भूल गये हैं, जो कि वास्तव में भाई की भाई के प्रति लड़ाई थी, जिसमें हम अपने ही देश के केन्द्रीय प्रदेश में एक दूसरे का गला काटने के लिए उद्यत हुए थे तथा जिसकी एण्डर-सनविले और लिब्बी की जेलों की भयानकता कम से कम उससे कोई कम नहीं, जिसका उल्लेख उन्होंने किया है ? फिर भी हम ईसाई बने रहे और पीढ़ी दर पीढ़ी हमारे पूर्वज भी। कानन्दा यह दावा नहीं करते कि उनके धर्म और संस्कृति में संसार की

सारी अच्छाइयाँ हैं तथा हमारे धर्म और संस्कृति में सब कुछ बुरा। और मैं समझती हूँ, हमें भी यह दावा नहीं करना चाहिए कि हममें सब कुछ अच्छा है और उनके देश में सब कुछ बुरा। हमें उदारता के विशाल भाव से प्रेरित होना चाहिए और दूसरे की आँखों का परदा दूर करने से पहले अपनी आँखों का परदा दूर कर लेना चाहिए। वैसे जहाँ तक उन सिद्धान्तों का प्रश्न है, जिन पर हमारी सभ्यता और धर्म आधारित है, वे किसी से कम महान् नहीं। हमें उनके अनुसार जीना चाहिए।

अन्त में, मैं इस आदरणीय भाई (आक्सीडेण्टल) से पूछना चाहूँगी, क्या वे सोचते हैं कि ऐसे लेखन और उपदेश के कार्य, जिनमें वे प्रवृत्त हुए हैं, प्रेम के सिद्धान्त को दर्शाते हैं तथा क्या बैण्डपार्टी की 'कैम्पबेल आ रहे हैं' इस धुन से अपने द्वार पर आये हुए एक अजनबी—कानन्दा—का सत्कार करना ईसाई धर्म के मानुषीकरण के प्रभाव को व्यक्त करनेवाला 'ईसा' का तरीका है?

डिट्रायट, २६ फरवरी जस्तीशिया

(क्रमशः)

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

शरद्चन्द्र पेंढारकर, एम. ए.

(१) हृदय-परिवर्तन

गौतम बुद्ध भ्रमण करते करते जब मगध की एक नगरी में पहुँचे, तो वहाँ के सारे नगरवासियों को दुःखी पाया। पूछने पर पता चला कि वहाँ पास के जंगल में एक डाकू रहता है, जिसने उन सबके परिवार के एक एक सदस्य का वध कर डाला है। उसका नाम अंगुलि-माल है; सिद्धि प्राप्त करने के लिए वह रोज एक

मनुष्य का वध करता है और उसकी अँगुलियाँ काटकर माला में पिरो देता है। उसकी इच्छा है कि वह एक हजार अँगुलियों की माला देवी को पहनाए।

बुद्धदेव ने उसका पता पूछा और वे उससे मिलने चल पड़े। नगरवासियों ने उन्हें रोका और कहा कि जब सशस्त्र सैनिक उसका कुछ भी बिगाड़ न सके, तब उन्हें बिना हथियार के वहाँ अकेले नहीं जाना चाहिए। इस पर बुद्धदेव बोले, "मेरे पास ऐसा हथियार है, जिसके सामने दूसरे हथियार का कोई असर नहीं होता।" रास्ते में आगे उन्हें एक बुढ़िया मिली और उन्होंने उससे अंगुलिमाल का पता पूछा। बुढ़िया को बड़ा आश्चर्य हुआ; बोली, "अंगुलिमाल आगे जरूर रहता है, मगर तुम वहाँ क्यों जाना चाहते हो ? वह मनुष्य नहीं, राक्षस है और वहाँ तुम्हारा जाना खतरे से खाली नहीं। वह जरूर तुम्हारी हत्या करेगा।" बुद्धदेव बोले, "भला मेरी हत्या वह क्योंकर करेगा ?" बुढ़िया बोली, "बेटा ! मैं उसकी माँ हूँ। मैं उसके बारे में कैसे नहीं जान सकती? उसने देवी को एक हजार अँगुलियों की माला पहनाने का प्रण किया है और आज की रात आखिरी है। मैंने उसे आज भी रोकने का प्रयत्न किया, तो वह बोला, 'यदि और कोई नहीं मिला, तो मैं तुम्हारी ही हत्या कर तुम्हारी अँगुलियों से माला पूरी करूँगा। आज तो वह पूरा पागल हो गया है।"

बुढ़िया ने उन्हें सामने वृक्षों के झुरमुट की ओर

उँगली दिखायी और बुद्धदेव वहाँ जाकर चिल्लाये, "यहाँ कोई है ?" आवाज सुन अंगुलिमाल तलवार लेकर खुशी से झूमता वहाँ आया और बोला, "आज देवी मुझ पर अवश्य ही प्रसन्न होगी, तभी तो उसनें अपने शिकार को स्वयं भेज दिया है।" फिर बोला, "कौन हो तुम ?" बुद्धदेव ने प्रतिप्रश्न किया, "अंगुलिमाल तुम्हीं हो न ?" "हाँ! हाँ! तुम गर्दन सामने करो, मैं तुम्हारा वध करूँगा।" बुद्धदेव ने खुशी से गर्दन सामने कर दी। अंगुलिमाल ने ज्योंही तलवार से वार करने के लिए हाथ बढ़ाया कि वह रुक गया। उसने पूछा, "क्या नाम है तुम्हारा ?" "गौतम", उत्तर मिला। "अच्छा, तो गौतम बुद्ध आप ही हैं !" यह कह उसने तलवार फेंक दी और उनके चरणों पर गिर पड़ा। बोला, "गुरुदेव ! मुझे क्षमा करें और अपनी शरण में ले लें; मैं महापापी हूँ, मेरे पापों का कोई प्रायश्चित्त नहीं।" बुद्धदेव ने उसके माथे का स्पर्श किया और बोले, "घबराओ नहीं, अब तुम्हारे सारे पाप धुल गये हैं, क्योंकि तुमने अपना अपराध स्वीकार कर लिया है।" बाद में अंगुलिमाल उनका शिष्य हो गया और उसने लंका में बौद्धधर्म का पर्याप्त प्रचार किया।

(२) **ईश्वर-नाम का प्रभाव**

गुरु नानक अपने प्रिय शिष्य मरदाना के साथ घूमते घूमते आसाम में पहुँचे। एक स्थान पर आग की लपटें देख मरदाना ने नानकदेव से पुछा, "यह अकस्मात् आग कैसे लगी है ?" इसके पूर्व कि नानकदेव उत्तर देते, वह

बुझ गयी। मरदाना बोला, "अरे, यह तो बुझ भी गयी।" तब नानकदेव बोले, "मरदाना! यहाँ जादू-टोना बहुत अधिक है।"

"क्या जादू-टोने में भी सत्यता होती है?" मरदाना ने प्रश्न किया।

नानकदेव बोले, " 'वाहगुरु' के अलावा किसी में भी सत्यता नहीं होती। परमात्मा के सामने जादू-टोने का कोई प्रभाव नहीं होता।"

उन्होंने एक स्थान पर डेरा डाला और मरदाना भोजन की व्यवस्था करने समीप के गाँव में गया, किन्तु वहाँ के एक जादूगर ने मंत्र से उसे पक्षी बनाकर पिंजड़े में बन्द कर दिया। मरदाना को न लौटते देख नानकदेव ने जान लिया कि उसे पक्षी बना दिया गया है। वे उस जादूगर के द्वार पर पहुँचे और उन्होंने मरदाना को पुकारा। नाम पुकारते ही पिंजरा टूट गया और मरदाना मनुष्य-रूप में सामने आ खड़ा हुआ। यह चमत्कार देख जादूगर नानकदेव से बोला, "आप जब यहाँ आये, तभी मैंने आप पर भी मंत्र का प्रयोग किया था, किन्तु जब कोई प्रभाव नहीं दिखायी दिया, तभी मैंने जान लिया कि आप कोई पहुँचे हुए महात्मा हैं।"

"ऐसी बात नहीं है," नानकदेव बोले, "वास्तव में मेरा देवता तुम्हारे देवता से बड़ा है।" "तब हमें भी उसका मंत्र बताएँ," वह जादूगर बोला। नानकदेव बोले, "अच्छा, तो यह मंत्र लो--'एक ओंकार सतिनाम

कर्त्तापुरुष निर्भउ अकालु मूरति अजूनी सै भं गुरु प्रसादि' (उस एक ईश्वर का नाम ही सच्चा है, जो सारे संसार का कर्ता है, निर्भय है, अजर-अमर है, अजन्मा है और उसी की कृपा का मैं इच्छुक हूँ।)" उस जादूगर ने मंत्र का उच्चारण किया और उनका शिष्य हो गया। तभी एक दूसरा आदमी बोला, "यहाँ का पानी बड़ा कड़ुआ है। यदि आप उसे मीठा बना सकें, तो आपके गुरु का लोहा मानेंगे।" नानकजी ने वहीं अपना बर्छा गाड़ दिया, जिससे वहाँ शीतल जल की धारा बहने लगी। उपस्थित लोगों ने जब जल चखा, तो उसे बड़ा ही मधुर पाया। वे सभी लोग उसी समय उनके शिष्य हो गये। यह स्थान आज 'बरच्छा साहिब' नाम से जाना जाता है।

(३) समदर्शिता

एक बार कृष्णभक्त सन्त जीव गोस्वामी वृन्दावन पधारे। बात जब मीराबाई को पता चली, तो वे उनसे मिलने पहुँचीं, किन्तु जीव गोस्वामी किसी भी नारी से मिलते नहीं थे, अतः उन्होंने बीच में परदे की व्यवस्था करके कहा, "मैं बालब्रह्मचारी हूँ और आपके प्रकृति (स्त्री) होने के कारण आपका दर्शन नहीं कर सकता।"

इस पर मीराबाई बोलीं, "गोस्वामीजी ! बड़े ही आश्चर्य की बात है कि आप प्रकृति और पुरुष के भेद में अब भी जकड़े पड़े हैं। आप सरीखे सन्त को तो समदर्शी होना चाहिए। मालूम होता है आपको श्रीमद्भागवत का सम्यक् ज्ञान नहीं है। क्या आपने उसमें यह नहीं

पढ़ा—'वासुदेवः पुमानेकः स्त्रीमयमितरज्जगत्' (प्रभु श्रीकृष्ण एकमेव पुरुष हैं तथा संसार में बाकी सब स्त्रियाँ हैं)? यदि पढ़ा है, तो फिर आप किस प्रकार स्वयं को 'पुरुष' कहते हैं? वृन्दावन में भगवान् श्रीकृष्ण के अलावा भी कोई पुरुष है, यह बात तो मुझे आज ही मालूम हुई!"

यह सुनते ही गोस्वामीजी का भ्रम दूर हो गया। उन्होंने परदा हटाया और मीराबाई से क्षमा माँगकर भगवच्चर्चा की।

(४) इन्द्रिय-दमन

स्वामी रामतीर्थ पहले लाहौर में प्रोफेसर थे और तब उनका नाम तीरथराम था। एक बार वे कालेज से घर आ रहे थे कि रास्ते में उन्होंने एक व्यक्ति को पीले पीले बड़े नीबू बेचते पाया। यह देख उनके मुँह में पानी भर आया। उनकी जिह्वा ने कहा, "खरीद लो, क्या हर्ज है?" तीरथराम ने सोचा, जो चीज सुन्दर दिखायी दे अथवा पसन्द आये, क्या उसको खरीदना ही चाहिए? वे आगे बढ़ गये, मगर जिह्वा फिर बोली, "नीबू उत्तम दिखायी दे रहे थे, लेने में क्या हानि थी? उसे खाओगे, तो तुम्हारा दिल बाग-बाग हो जायगा।"

तीरथराम तुरन्त लौट आये, नीबुओं को हाथ लगाकर देखा, तो रसदार मालूम हुए। अकस्मात् सोचने लगे, "यह जिह्वा क्यों पीछे पड़ी है, समझ में नहीं आता। इसका कहना मैं क्यों मानूँ?" और वे आगे बढ़ गये। किन्तु जिह्वा भला हार माननेवाली थी? वह फिर

बोली, "बड़े अजीब आदमी हो तुम! तुमने जब नीबुओं को रसदार पाया, तो उनका स्वाद लेने में क्या तुम्हें पाप लगता था? एक खरीद लेना था।" और वे लौट आये। नीबूवाला भी हैरान था कि यह बाबू बड़ा विचित्र दिखायी देता है, जो आता है, फिर जाता है; फिर आता है, फिर जाता है। बोला, "साहब! लेना है तो ले लीजिए, बार बार क्यों आ-जा रहे हैं!" और इस बार उन्होंने दो नीबू खरीद ही लिये।

घर आते ही उन्होंने पत्नी से चाकू माँगा। उन्होंने एक नीबू काटा और ज्योंही वे एक फाँक को चूसने के लिए मुँह तक लाये ही थे कि अन्दर से आवाज आयी—"वाह तीरथ-राम! मानना पड़ेगा, तू भी इस जिह्वा का दास हो गया। वह तुझे आदेश दे रही है और तू उसका पालन करता जा रहा है। अरे, जिह्वा तेरी है या तू जिह्वा का है?"

तब तक पत्नी भी वहाँ पहुँच चुकी थी। उसे बड़ा आश्चर्य हुआ कि बाजार से आते ही पति ने चाकू माँगा, नीबू काटा और वह ज्यों का त्यों पड़ा है। बोली, "नीबू खाते खाते रुक कैसे गये?" जिह्वा भला चुप कैसे रह सकती थी? वह भी बोली, "बड़े मूरख हो तुम भी! काटकर भी चखते नहीं हो!"

तीरथराम तुरन्त उठे और उन्होंने कटे और साबूत दोनों नीबुओं को उठाकर बाहर फेंक दिया। फिर प्रसन्नता से चिल्ला उठे— "मैं जीत गया। इन्द्रियों को मैं भी वश में कर सकता हूँ!"

❋

प्रश्न – मुझे सतत भय और आशंका की भावना पीड़ित करती रहती है। मृत्यु से उतना डर नहीं लगता, पर अनागत भय मुझे सताते रहते हैं; जैसे––यदि मैं दुर्घटना का शिकार होकर अपंग हो गयी, अथवा माता की बीमारी से दृष्टिशक्ति खो बैठी, अथवा मेरा लड़का स्कूल आते-जाते दुर्घटनाग्रस्त हो गया, तो क्या होगा? ऐसी निर्मूल आशंकाओं से मैं बहुत परेशान हूँ। इससे छूटने का कोई सरल उपाय बतायें।

– श्रीमती रंजना त्रिपाठी, इन्दौर

उत्तर – इतनी बात अच्छी है कि आपको अपनी आशंकाओं के निर्मूल होने का बोध बना हुआ है। यही आपको इन आशंकाओं से ऊपर उठने का बल प्रदान करेगा। यदि आपमें ईश्वर के प्रति समर्पण का भाव आ सके, अथवा भवितव्य की अपरिहार्यता की धारणा दृढ़ हो सके, तो आप इन भयों से बच सकती हैं। मृत्यु से आपको उतना डर नहीं लगता, इससे यह प्रकट है कि आपके मन के किसी कोने में असुरक्षा की भावना पैठी हुई है। तभी तो आपको लगता है, भले ही मौत आ जाय, पर मैं अपंग बनकर किसी की दया के भरोसे न बैठी रहूँ। लड़के के लिए भी इसीलिए आशंका उठती है कि कहीं उसके छिन जाने से आप असुरक्षित न हो जायँ। यह असुरक्षा की भावना सुरक्षा के

आश्वासन से ही दूर हो सकती है। और ईश्वर को छोड़कर भला और कौन हमें अचल-अटल सुरक्षा प्रदान कर सकता है? संसार का कोई भी व्यक्ति हमें सुरक्षा नहीं दे सकता, कोई वस्तु या दवा हमें सुरक्षित नहीं रख सकती। जो स्वयं असुरक्षित है, वह दूसरे की रक्षा कैसे कर सकता है? अतएव ईश्वर के प्रति अपना विश्वास बढ़ाइए, उनके प्रति यह भावना तीव्र कीजिए कि इस संसार में एकमात्र वे ही आपके अपने हैं और सदैव आपके साथ हैं। यह धारणा दृढ़ कीजिए कि वे मंगलमय हैं और सतत आपका मंगल ही करते हैं। अनुकूल परिस्थितियों में जिस प्रकार उनकी कृपा का अनुभव होता है, उसी प्रकार प्रतिकूल परिस्थितियों में भी उनकी कृपा का अनुभव करना चाहिए। विपत्तियों को यदि उन्हीं का भेजा मान लिया जाय, तो विपत्तियों का दंश नष्ट हो जाता है। मन में इस प्रकार की भावना सतत उठानी चाहिए--'ठीक है, प्रभो! तुम्हारी इच्छा हो, तो विपत्ति भी दो, पर मुझे अपने से दूर न करो। विपत्ति भी तो तुम्हारी ही दी हुई है। ऊपर से अमंगल दिखनेवाली घटना के पीछे वास्तव मे तुम्हारा ही मंगलमय वरदहस्त है। इससे अन्ततोगत्वा मेरा कल्याण ही होगा, पर आज मुझमें यह सामर्थ्य नहीं कि इस अमंगल में छिपे मंगल को देख सकूँ। तुम्हारी कृपा से बुद्धि इसे समझने में समर्थ हो जाय, ऐसा कर दो।'

यदि उपर्युक्त भावना तीव्र होकर हमारे भीतर दृढ़मूल हो जाय, तो फिर विपरीत परिस्थितियों में भी प्रतिकूलता नहीं दिखती। तब, ज्योंही मन में विचार उठेगा कि 'मैं दुर्घटना का का शिकार होकर अपंग हो जाऊँ तो,' त्योंही मन में एक दूसरा विचार कौंधेगा---'तुम्हारी इच्छा हो, तो मेरी अपंगता में भी मेरा कल्याण ही होगा।' ज्योंही मन में विचार उठेगा कि 'मैं रोग से आँखों को खो बैठूँ तो,' त्योंही एक प्रति-विचार

कौंधेगा—'तुम्हारी मर्जी हो, तो मेरा अन्धापन भी मेरे लिए मंगलकारी ही होगा।' ज्योंही मन सोचेगा कि 'लड़का कहीं दुर्घटनाग्रस्त हो गया तो,' त्योंही उसके भीतर एक अन्य विचार-लहरी उठेगी—'हो जाय तुम्हारी बला से! तुम जैसा चाहो, करो। लड़का तुमने दिया, लेना चाहो, तो ले लो। जिससे मेरा भला हो वही करो। मुझे नहीं मालूम कि मेरा मंगल किसमें है। मेरा सारा भार तुम पर रहा!'

बस, यही मन की वह वृत्ति है, जो निर्मूल आशंकाओं को जड़ से नष्ट कर देती है। 'जो ईश्वर नवजात शिशु को माँ के गर्भ से बाहर लाते ही उसके लिए स्तनों में दूध की व्यवस्था कर देता है, वह सदैव हमारा संरक्षण कर रहा है,' ऐसा विश्वास ही हमारी असुरक्षा की भावना को समाप्त करता है। वास्तव में, ईश्वर का यह संरक्षण तो हमें सदैव प्राप्त है, पर हम अपने अज्ञान के कारण, मोह और अविवेक के कारण, अहंकार और दर्प के कारण उनकी कृपा का अनुभव नहीं कर पाते। चुम्बक तो सतत लौह-कणिकाओं को अपनी ओर खींच रहा है, पर कणिकाएँ मिट्टी से सनी होने के कारण इस आकर्षण का अनुभव नहीं कर पातीं। मिट्टी ज्योंही साफ होती है, कणिकाएँ अपने आप चुम्बक के आकर्षण में बँधकर उसकी ओर खिचने लगती हैं। बस, यही बात जीव पर भी लागू होती है। हमने अपने आपको अहंकार, कर्तापन आदि की मिट्टी से सान लिया है, इसी-लिए ईश्वर के आकर्षण का, उनकी कृपा और संरक्षण का हम अनुभव नहीं कर पाते। हम क्यों कर्तापन के बोझ को सिर पर लेकर ढोएँ, जब ईश्वर हमारे लिए सारा बोझ ढोने को तैयार है? तो, ऐसा विश्वास अपने भीतर लाइए। आप देखेंगी, सारा डर समाप्त हो जायगा।

या फिर, यदि आपमें विचार की प्रधानता है, तो भवितव्य

की अपरिहार्यता की धारणा मन में दृढ़ कीजिए। अपने आप से कहिए कि जो अवश्यम्भावी है, उसे कौन टाल सकता है ? काल की गति को कौन मेट सकता है ? जब जैसी परिस्थिति सामने आयेगी, तब वैसा देखेंगे, अभी से डरते रहने से क्या लाभ ? इस प्रकार की भावना मन में दृढ़ होने पर अनागत का भय समाप्त हो जाता है।

बस, यही उपाय है। इससे सरल उपाय और नहीं है। मनुष्य सरल उपाय के चक्कर में समस्या को सुलझाने के बदले और उलझा लेता है। 'शार्ट कट' से जाने के चक्कर में और अधिक भटक जाता है। इसलिए सरल उपाय का चक्कर छोड़ दें। यह तो मन के दृष्टिकोण को बदलने की बात है। मन को बदलने के लिए ऐसी कोई दवा नहीं है, जिसे खा लिया तो मन बदल गया ! या ऐसा कोई जादुई डण्डा भी नहीं है कि छुलाकर मन को रूपान्तरित कर दिया ! मन में जाने कितने जन्मों के संस्कार भरे पड़े हैं। उन सबका शोधन करने के लिए अभ्यास की आवश्यकता होती है, जैसा कि ऊपर में बताया गया, और ऐसा अभ्यास केवल निर्मूल आशंकाओं या अनागत भयों का ही विनाश नहीं करता, प्रत्युत वह तो संसार-भय को ही पूरी तरह से समाप्त करके जीवन को धन्य बना देता है।

●